नई दिल्ली
रविवार, 06 सितंबर, 2026, मूल्य-15.00
राष्ट्रीय
वर्ष-8 अंक-46 पृष्ठ- 8
RNI: DELHIN / 2018 / 76679
Postal Reg. No. DL(C)-05/1425/2025-27
License To Post Without Pre Payment No. U(C)-164/2025-27
Magazine Post Reg. No. DL(DS)-31/MP/25-26-27

संडे नवजीवन

Freedom is in Peril. Defend it with all your might Jawaharlal Nehru

सिंधु जल संधि पर आक्रामक रुख अपनाकर भारत ने अपने लिए नई मुश्किल ही खड़ी की है 4

अमेरिका में भागवत के बयान अर्थहीन 5

संयुक्त परिवार की वापसी 7

www.navjivanindia.com | @navjivanindia | www.nationalheraldindia.com | www.qaumiawaz.com

हरी लीपापोती के शिकार इंसान और पर्यावरण

हरजिंदर

हिमालय ने 26 अगस्त की सुबह एक बार फिर चेतावनी दी। नेपाल-तिब्बत सीमा पर लांगटांग लिरुंग पर्वत के पास भूगोलीय घटनाओं की एक श्रृंखला ने बर्फ, चट्टानों, पानी और मलबे की सुनामी को भोटे कोशी और त्रिशूली घाटियों की ओर धकेल दिया। इसके सही क्रम को लेकर वैज्ञानिक अभी भी अनुमान लगा रहे हैं।

बस्तियां गायब हो गईं। सड़कें और पुल मलबे में समा गए। एक दर्जन से अधिक पनबिजली परियोजनाएं क्षतिग्रस्त हुईं या पूरी तरह तबाह हो गईं। उनमें काम कर रहे सैकड़ों मजदूर फंस गए।

वैज्ञानिक अब इस विनाशकारी घटना के शुरुआती कारण को लेकर सहमत हैं। करीब 5,200 मीटर की ऊंचाई पर ग्लेशियर का एक विशाल हिस्सा, जिसका अनुमानित आयतन 10 से 20 करोड़ घन मीटर था, टूटकर अलग हो गया और करीब 1,200 मीटर नीचे घाटी में जा गिरा।

निर्माणाधीन 216 मेगावाट की अपर त्रिशूली-1 पनबिजली परियोजना में काम कर रहे मजदूरों के पास बाढ़ की लहर पहुंचने के बाद ऊंचाई की ओर भागने के लिए मुश्किल से 40 सेकंड थे। सुरंगों के द्वार मलबे से बंद हो गए। नेपाल सरकार के आंकड़ों में परियोजना स्थलों से लापता लोगों की संख्या 934 बताई गई, हालांकि तमाम एजेंसियों ने अलग-अलग आंकड़े दिए।

साउथ एशिया नेटवर्क ऑन डैम्स, रिवर्स एंड पीपुल की वरिष्ठ शोधकर्ता परिणीता दांडेकर कहती हैं कि किसी को यह तक पता नहींकि इन परियोजना स्थलों पर कुल कितने लोग काम कर रहे हैं। ठेका मजदूरों, दिहाड़ी कामगारों और रोजगार की तलाश में आए लोगों की आधिकारिक संख्या नहीं है। चमकदार तरीके से तैयार की जाने वाली पर्यावरण प्रभाव आकलन रिपोर्ट आमतौर पर इस अहम तथ्य पर पर्दा डाल देती हैं।

हिमस्खलन प्राकृतिक घटना थी, लेकिन उससे पैदा मानवीय जोखिम और जान-माल खर्चीले बुनियादी ढांचे का नुकसान प्राकृतिक नहीं था।

महज एक साल पहले, 8 जुलाई 2025 को, भोटे कोशी-त्रिशूली घाटी एक भीषण बाढ़ से तबाह हो गई थी। इस बाढ़ में 10 से अधिक पनबिजली परियोजनाएं क्षतिग्रस्त हुई थीं। एक साल बाद, उसी बुनियादी ढांचे पर कहीं ज्यादा बड़ी आपदा आई।

सवाल सिर्फ यह नहीं है कि ग्लेशियर क्यों टूट रहे हैं या अत्यधिक बाढ़ की घटनाएं क्यों बढ़ रही हैं। जलवायु परिवर्तन एक हकीकत है, लेकिन हमें इसके पीछे छिपकर अपनी उस आत्मघाती प्रवृत्ति को नजरअंदाज नहीं करना चाहिए जिसमें हम चेतावनियों को अनदेखा करते हैं और पहाड़ों में बेलगाम 'विकास' परियोजनाओं को आगे बढ़ाते रहते हैं। सवाल यह भी पूछना होगा कि ज्ञात जोखिमों की राह में, नदी के बहाव की दिशा में, हम अब भी निर्माण क्यों कर रहे हैं, जबकि वैज्ञानिक लगातार इससे बचने की सलाह दे रहे हैं।

जलवायु की बहस में पनबिजली को लंबे समय से विशेष दर्जा हासिल रहा है। बिजली पैदा करने के लिए इसमें कोयला या तेल नहीं जलाया जाता। खासकर 'रन-ऑफ-द-रिवर' परियोजनाओं को जीवाश्म ईंधन आधारित बिजली के कम बुरे प्रभाव वाले विकल्प के रूप में पेश किया जाता है।

बड़ी पनबिजली परियोजनाएं तलछट और पानी के प्रवाह को बदलती हैं, नदी के पारिस्थितिकी तंत्र को प्रभावित करती हैं और इनके लिए सड़कें, सुरंगें, ट्रांसमिशन लाइनें, विस्फोट और बड़े निर्माण स्थल जरूरी होते हैं। यह सब हिमालय में बड़े पैमाने पर हो रहा है। एक ऐसी युवा पर्वत श्रृंखला में जिसे भूगर्भीय रूप से अस्थिर माना जाता है।

पनबिजली परियोजना कम-कार्बन वाली बिजली पैदा कर सकती है, फिर भी पारिस्थितिकी के लिए खतरा बन सकती है। यहीं हरी लीपापोती यानी 'ग्रीनवॉशिंग' की शुरुआत होती है।

ग्रीनवॉशिंग का मतलब विकास परियोजनाओं को पर्यावरण के लिहाज से सुरक्षित और अनुकूल बताना, उनके पारिस्थितिक नुकसान को छिपाना, कम करके दिखाना या जानबूझकर नजरअंदाज करना। पर्यावरण प्रभाव आकलन यानी ईआईए की प्रक्रिया में यह प्रवृत्ति सबसे खतरनाक दिखाई देती है।

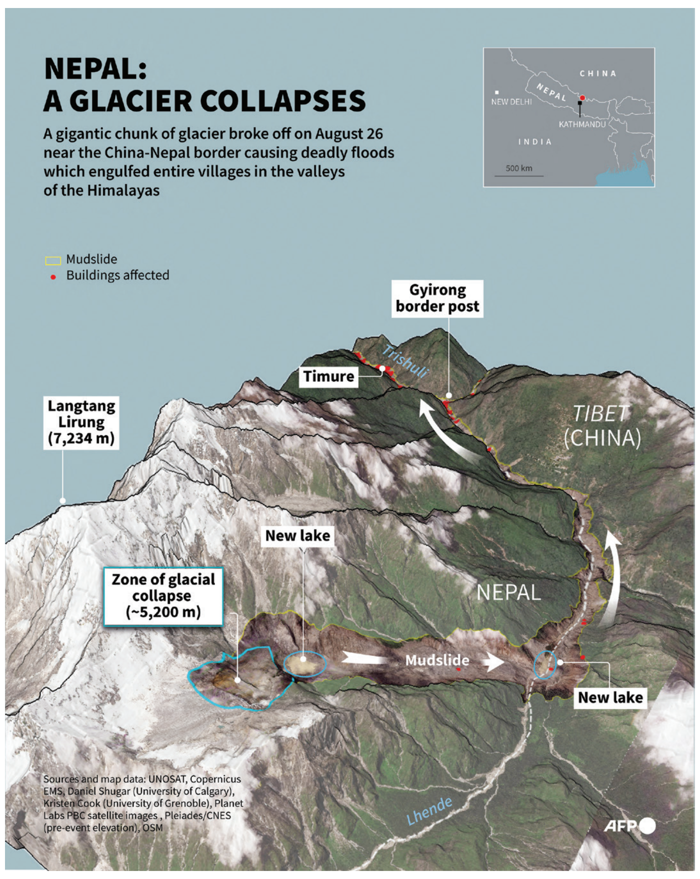
NEPAL:
A GLACIER COLLAPSES
A gigantic chunk of glacier broke off on August 26 near the China-Nepal border causing deadly floods which engulfed entire villages in the valleys of the Himalayas
CHINA
NEPAL
NEW DELHI
KATHMANDU
INDIA
500 km
Mudslide
Buildings affected
Gyirong border post
Trishuli
Timure
Langtang Lirung (7,234 m)
TIBET (CHINA)
New lake
Zone of glacial collapse (~5,200 m)
NEPAL
Mudslide
New lake
Lhende
Sources and map data: UNOSAT, Copernicus EMS, Daniel Shugar (University of Calgary), Kristen Cook (University of Grenoble), Planet Labs PBC satellite images , Pleiades/CNES (pre-event elevation), OSM
AFP

इंफोग्राफिक: गेटी इमेजेज

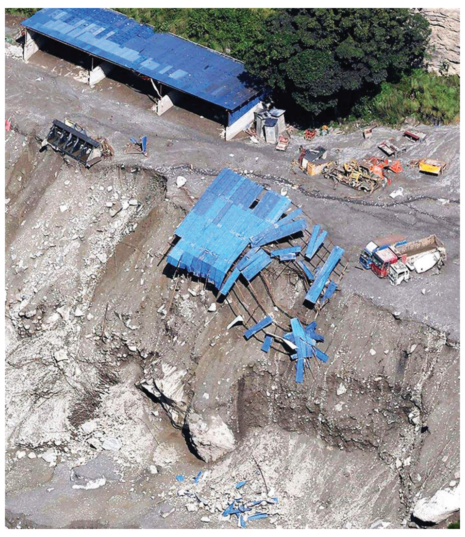

विनाशकारी बाढ़ से पहले अपर त्रिशूली-1 हाइड्रोपावर प्रोजेक्ट; और लहरों से साइट की तबाही। बचे हुए लोगों को खोजने की कोशिश करते बचावकर्मी। (नीचे) तबाही का मंज़र

परिणीता दांडेकर बताती हैं कि हिमालयी क्षेत्र में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है जहां किसी बांध या पनबिजली परियोजना को सिर्फ इसलिए मंजूरी देने से इनकार किया गया हो कि उसे पर्यावरण के लिहाज से जोखिम भरा या परियोजना स्थल को भूगर्भीय रूप से नाजुक माना गया हो। ईआईए अक्सर उन्हीं लोगों या संस्थाओं की ओर से कराया जाता है जो परियोजना का प्रस्ताव रखते हैं, ताकि उसकी पर्यावरणीय व्यवहारिकता प्रमाणित की जा सके।

नेपाल की हालिया आपदा इसका उदाहरण है। अपर त्रिशूली-1 की फाईनेंसिंग और समर्थन में शामिल बहुपक्षीय संस्थानों, एशियाई विकास बैंक और विश्व बैंक की इंटरनेशनल फाइनेंस कॉरपोरेशन, ने पर्यावरणीय और संचयी प्रभाव आकलन यानी सीआईए कराए थे। शोधकर्ताओं का कहना है कि कर्ज देने वाली संस्थाएं नदी बेसिन की अत्यधिक संवेदनशीलता से परिचित थीं, इसके बावजूद फाईनेंसिंग जारी रही और इसे 'जलवायु एवं आपदा प्रतिरोधक क्षमता' की भाषा में पेश किया गया।

मिसाल के लिए, त्रिशूली बेसिन के आकलन में ग्लेशियल लेक आउटबर्स्ट फ्लड यानी जीएलओफ की आशंका का उल्लेख ही नहीं है, जबकि इस क्षेत्र की जल प्रणाली में ग्लेशियर और हिमनदीय झीलें बुनियादी घटक हैं। इसे महज अनजाने में हुई चूक नहीं माना जा सकता।

नेपाल अकेला नहीं है। उत्तराखंड में 2021 में ग्लेशियर से जुड़ी आपदा ने तपोवन-विष्णुगाड और ऋषिगंगा पनबिजली परियोजनाओं को तबाह कर दिया था और 200 से अधिक लोगों की जान चली गई थी। जोशीमठ हिमालयी अस्थिरता का एक उदाहरण बन गया, जहां दरारें पड़ने के बाद 850 से अधिक मकानों को रहने के लिहाज से असुरक्षित घोषित किया गया। अध्ययनों में जमीन के विकृत होने की बात सामने आई और पहले से नाजुक क्षेत्र में सुरंग निर्माण और पनबिजली परियोजनाओं के प्रभाव को लेकर चिंता दोहराई गई।

अक्तूबर 2023 में उत्तरी सिक्किम में साउथ ल्होनक ग्लेशियर के टूटने और धंसने से सैलाब आया। कुछ ही घंटों में तीस्ता नदी का जलस्तर 15 से 20 मीटर तक बढ़ गया। गांव, सड़कें, पुल, खेत और बुनियादी ढांचा पानी के साथ बह गए और 1,200 मेगावाट की चुंगथांग पनबिजली परियोजना पूरी तरह नष्ट हो गई। नुकसान का अनुमान 25,000 करोड़ रुपये से अधिक लगाया गया।

पनबिजली संयंत्र का मतलब सिर्फ एक बिजलीघर नहीं होता। इसके साथ सड़कें, ट्रांसमिशन कॉरिडोर, मजदूरों की बस्तियां, सुरंगें, मलबा डालने के स्थान, विस्फोट और जंगलों की कटाई भी आती है। यहां तक कि 'रन-ऑफ-द-रिवर' कही जाने वाली परियोजनाओं में भी बड़े पैमाने पर सुरंग निर्माण और पहाड़ी ढलानों में बदलाव शामिल हो सकता है। शोध बताते हैं कि इस तरह का निर्माण ढलानों की भूगर्भीय स्थिरता को प्रभावित कर सकता है, मिट्टी का कटाव बढ़ा सकता है और भूस्खलन को जन्म दे सकता है। असर पहाड़ों के प्राकृतिक जलस्रोतों पर भी पड़ सकता है।

यह पैटर्न पनबिजली से आगे भी दिखाई देता है। बेहतर कनेक्टिविटी, राष्ट्रीय सुरक्षा और, जाहिर है, उस जादुई शब्द 'विकास' के नाम पर ट्रांस-हिमालयी इलाकों में सड़कें और सुरंगें बनाई जा रही हैं। मसलन, जोजिला में बड़े पैमाने पर विस्फोटों ने भूगर्भीय संरचनाओं को अस्थिर किया है। इसके अलावा जैव-विविधता से भरपूर इस नाजुक क्षेत्र में शोर और वायु प्रदूषण का खतरा भी बढ़ा है।

भाषा बदल सकती है, 'स्वच्छ ऊर्जा' से लेकर 'सदाबहार कनेक्टिविटी' और 'हरित विकास' तक, मूल धारणा वही रहती है कि परियोजना के लिए पहाड़ को बदलना ही होगा।

*

ग्रीनवॉशिंग केवल नदी परियोजनाओं तक सीमित नहीं है। लद्दाख के चांगथांग क्षेत्र में प्रस्तावित नवीकरणीय ऊर्जा परियोजनाओं को ही लें। ठंडे रेगिस्तानी पठार पर सौर और पवन ऊर्जा पहली नजर में जलवायु संकट का आदर्श समाधान लग सकती है। लेकिन मामला इतना सरल नहीं है।

पैंग के आसपास की जमीन का इस्तेमाल चांगपा पशुपालक गर्मियों के महत्वपूर्ण चरागाह के रूप में करते हैं। ठंडे रेगिस्तान का पारिस्थितिकी तंत्र बेहद नाजुक है और यह क्षेत्र ब्लैक-नेक्ड क्रेन तथा हिम तेंदुए जैसी प्रजातियों का आवास है। बड़े पैमाने पर नवीकरणीय ऊर्जा संयंत्र जैव-विविधता के लिए विनाशकारी साबित हो सकते हैं, भारी मात्रा में पानी के इस्तेमाल को बढ़ावा दे सकते हैं और पारंपरिक आजीविका के लिए खतरा बन सकते हैं।

जीवाश्म ईंधन के मुकाबले सौर, पवन और जल ऊर्जा भले ही 'हरित' विकल्प दिखाई दें, लेकिन 'नवीकरणीय' होना ऐसा गुण नहीं है जिसे बाकी सभी बातों से अलग करके देखा जाए। 'हरित' होना किसी परियोजना को कठोर पर्यावरणीय आकलन से छूट नहीं देता।

पनबिजली परियोजना को कथित तौर पर 'जलवायु के हिसाब से लचीला' बताया जाता है, लेकिन उसके आकलन में ग्लेशियरों की अस्थिरता, बारिश के बदलते पैटर्न और अक्सर आने वाली आपदाओं को शामिल ही नहीं किया गया, तो यह बात बेमानी है।

अगर कोई परियोजना पहाड़ी ढलानों को अस्थिर करती है, जंगल नष्ट करती है और फिर कहीं और पेड़ लगाकर उसकी भरपाई का दावा करती है, तो उसके 'हरित' होने की बात बस उसकी चमकदार पैकेजिंग है। ■

> 'ग्रीन' होने का मतलब यह नहीं है कि सख्त पर्यावरणीय आकलन को नज़रअंदाज़ कर दिया जाए

उत्तराखंड एसआईआर में भी वही खेल

नंदलाल शर्मा

उत्तराखंड के पिथौरागढ़ जिले में धारचूला विधानसभा क्षेत्र के घरूडी गांव के सुरेश चंद की पत्नी कविता चंद ने 2024 लोकसभा चुनाव में वोटिंग की थी। लेकिन अब चलाए जा रहे विशेष प्रगाढ़ पुनरीक्षण (एसआईआर) में मतदाता सूची में कविता चंद का नाम शामिल कराने में परिवार को पसीने छूट रहे हैं। वजह सिर्फ एक है। दोनों की शादी 2022 में हुई और कविता का मायका नेपाल के दार्चुला जिले में है।

उत्तराखंड में चुनाव आयोग ने एसआईआर के लिए जारी गणना प्रपत्र में मतदाताओं के लिए दस्तावेजों की जो सूची जारी की है, उसमें कहा गया है कि यदि किसी व्यक्ति का जन्म भारत के बाहर हुआ हो, तो वह संबंधित देश में स्थित भारतीय मिशन द्वारा जारी जन्म पंजीकरण प्रमाणपत्र संलग्न करे। साथ ही, वह पंजीकरण या प्राकृतिकरण द्वारा भारतीय नागरिकता प्राप्त करने से संबंधित पंजीकरण प्रमाण पत्र संलग्न करे।

सुरेश चंद के घरूडी गांव के बगल में काली नदी है और इसे पार करते ही नेपाल का दार्चुला जिला है। उत्तराखंड के तीन जिलों - पिथौरागढ़, चंपावत और उधमसिंहनगर की सीमाएं नेपाल से लगती हैं। सुरेश चंद कहते हैं कि 'घरूडी से तिब्बत सीमा भी ज्यादा दूर नहीं है और स्थानीय लोग व्यापार करने वहां भी जाते हैं।' वैसे, उत्तराखंड ही नहीं, बिहार और उत्तर प्रदेश के इस किस्म के सीमावर्ती जिलों में इस किस्म की शादियों की पीढ़ीगत परंपरा रही है। सीमावर्ती इलाकों में इस किस्म के रिश्तों को ध्यान में रखकर ही नेपाल के जनकपुर में 11 मई 2018 को एक रैली को संबोधित करते हुए प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने कहा था कि 'भारत-नेपाल संबंध किसी परिभाषा से नहीं बल्कि रोटी-बेटी की भाषा से बंधे हैं।'

तब भी, इस बार एसआईआर में इस किस्म का नया प्रावधान लागू किए जाने से ऐसे परिवारों के साथ विकट स्थिति पैदा हो गई है। कांग्रेस पार्टी के बीएलए सुंदर जौहरी बताते भी हैं कि 'धारचूला विधानसभा क्षेत्र में दो हजार से ज्यादा ऐसी महिलाएं हैं, जिनका ताल्लुक नेपाल से है और उनके नाम एसआईआर में शामिल नहीं हो पाए हैं।' सुरेश कहते हैं कि 'उनके गांव में 7 वार्ड हैं। उनके अपने वार्ड नंबर 7 में भी पांच बहुएं ऐसी हैं, जो नेपाल से ब्याह कर आई हैं।' इनमें एक पुष्पा देवी भी हैं जिनकी शादी 2015 में सुरेश के भाई से हुई थी।

चुनाव आयोग के मुताबिक, 2022 में धारचुला विधानसभा क्षेत्र में कुल मतदाताओं की संख्या 90,798 थी, जबकि 2026 में एसआईआर के बाद प्रकाशित ड्राफ्ट लिस्ट में कुल मतदाताओं की संख्या 81,324 है। आयोग के आंकड़ों के मुताबिक, एसआईआर के बाद यहां 7,237 लोग ऐसे हैं, जिनकी मैपिंग नहीं हो पाई है।

राज्य में 14 जुलाई 2026 को एसआईआर की ड्राफ्ट सूची के प्रकाशन से पहले उत्तराखंड में 79.6 लाख मतदाता थे, जो एसआईआर के बाद घटकर 71.3 लाख हो गए हैं, मतलब 8.2 लाख से ज्यादा मतदाता डिलीट कर दिए गए हैं। आयोग के आंकड़ों के मुताबिक, राज्य में 6.3 लाख से ज्यादा मतदाता एबसेंट/शिफ्टेड पाए गए हैं, जबकि मृतकों की संख्या 1.24 लाख से ज्यादा रही है।

*

राज्य विधानसभा के 2022 के चुनाव परिणाम और एसआईआर के दौरान एएसडीडी के तहत डिलीट किए गए वोटरों के आंकड़ों को साथ रखकर देखें तो एक उल्लेखनीय पैटर्न सामने आता है। 70 विधानसभा सीटों में 45 सीटें ऐसी हैं, जहां डिलीटेड मतदाताओं की संख्या 2022 में जीत के अंतर से अधिक है। इन चुनावों में कई सीटों पर मुकाबला बेहद करीबी रहा था।

2022 में अल्मोड़ा सीट कांग्रेस ने सिर्फ 127 वोट से जीती थी, जबकि एसआईआर में डिलीटेड मतदाताओं की संख्या 8,947 है, यानी जीत के अंतर से लगभग 70 गुना ज्यादा। द्वाराहाट में 2022 का मार्जिन 182 था और अब डिलीटेड वोटरों का आंकड़ा 8,616, यानी लगभग 47 गुना है। इसी तरह जीत-हार का अंतर बाजपुर में 1,611 के मुकाबले डिलीशन 28,520, श्रीनगर में 587 के मुकाबले 9,819, मंगलौर में 598 के मुकाबले 8,230, गदरपुर में 1,120 के मुकाबले 13,203 और टिहरी में 951 के मुकाबले 8,975 है।

यह पैटर्न केवल पहाड़ी क्षेत्रों तक सीमित नहीं है। तराई और मैदानी विधानसभा क्षेत्रों में भी बड़ी संख्या में एएसडीडी डिलीशन हुआ हैं। जसपुर में 16,600, किच्छा में 27,068, हल्द्वानी में 20,867, काशीपुर में 28,701 और धर्मपुर में 29,251 मतदाताओं को डिलीट किया गया है।

ध्यान रहे कि 2026 के पश्चिम बंगाल में एसआईआर के बाद करीब 90.8 लाख नाम वोटर लिस्ट से बाहर हुए। इनमें लगभग 27.16 लाख नाम एबजुडिगेशन के बाद भी सप्लीमेंट्री वोटर लिस्ट में शामिल नहीं हुए। चुनाव बाद किए गए विश्लेषण में पाया गया कि 49 सीटों पर एबजुडिगेशन के बाद डिलीटेड वोटर्स की संख्या जीत के मार्जिन से अधिक थी।

*

उत्तराखंड में 70 विधानसभा सीटें हैं। एसआईआर की ड्राफ्ट लिस्ट के प्रकाशन के बाद फॉर्म-7 के जरिये आपत्तियां लगाने में भी एक पैटर्न है।

उत्तराखंड के चीफ इलेक्शन कमिश्नर द्वारा ऑल पार्टी मीटिंग में दिए गए दस्तावेज के मुताबिक, उधमसिंह नगर जिले की 9 विधानसभा सीटों- जशपुर में 6,757, काशीपुर में 5,955, बाजपुर में 1,890, गदरपुर में 6,138, रुद्रपुर में 5,807, किच्छा में 10,858, सितारगंज में 4,154, नानकमत्ता में 3,985 और खटीमा में 2,315 फॉर्म-7 आपत्तियां लगाई गई हैं। नैनीताल की हल्द्वानी सीट पर 7,630, हरिद्वार की झबरेड़ा सीट पर 6,607, रुड़की में 4,801, बीएचईएल रानीपुर में 2,396, ज्वालापुर में 2,834, पीरन कलियार में 2,669, मंगलोर में 2,190 और हरिद्वार ग्रामीण सीट पर 2,298 पर आपत्ति लगाई गई है।

चुनाव आयोग के प्रावधानों के मुताबिक, मतदाता सूची में शामिल वोटर अपने विधानसभा क्षेत्र के किसी भी व्यक्ति या वोटर के नाम को शामिल करने या हटवाने के लिए फॉर्म-7 के जरिये आपत्ति दाखिल कर सकता है। वैसे तो, चुनाव आयोग का 2023 का मैनुअल कहता है कि बूथ लेवल एजेंट एक दिन में 10 से ज्यादा आवेदन दाखिल नहीं कर सकता, लेकिन पिछले साल एसआईआर के चलते आयोग ने इस सीमा को बढ़ाकर दिन में 50 आवेदन कर दिया, और इस साल की शुरुआत में एसआईआर के संबंध में बंगाल के मुख्य चुनाव अधिकारी को भेजे गए एक पत्र में एक दिन में फॉर्म-7 भरे जाने की सीमा पूरी तरह हटा दी गई। हालांकि इसके साथ एक कैविएट लगाई गई कि अगर एक आपत्तिकर्ता पांच से ज्यादा दावे/आपत्ति फॉर्म भरता है तो उसका अनिवार्य रिव्यू होगा। उत्तराखंड में ड्राफ्ट लिस्ट के प्रकाशन के बाद दावे और आपत्ति के लिए 13 अगस्त की समय सीमा तय की गई थी। 11 सितंबर तक नोटिस और सुनवाई का दौर चलेगा और 15 सितंबर को फाइनल वोटर लिस्ट का प्रकाशन होगा।

न्यूजलॉन्ड्री ने उत्तराखंड में दाखिल फॉर्म-7 आपत्तियों के विश्लेषण में पाया कि पांच लोगों ने 6,500 आपत्तियां फाइल की हैं, और उन्होंने जिन लोगों के खिलाफ फॉर्म-7 दाखिल किए वे सब मुसलमान हैं, जबकि फॉर्म दाखिल करने वाले पांचों लोग भाजपा से जुड़े हैं।

शेष पेज 2 पर ▸

> सीमावर्ती जिलों में नेपाली महिलाओं से शादी आम बात है, पर वे अब वोट शायद ही दे पाएं

पूर्व चेतावनी वाले सिस्टम में निवेश उपयोगी

खतरों के संकेत पढ़ना नामुमकिन तो नहीं। क्या यह हमारी प्राथमिकता में ही नहीं है?

नवीन जोशी

कोई पूर्व चेतावनी नहीं...और केदारनाथ (2013), चमोली (2021), सिक्किम (2023) और धराली (2025) में हुई आपदाओं से कोई सबक भी नहीं सीखा गया

28 **मई** 2025 को स्विट्जरलैंड की आल्प्स पर्वतमाला का एक विशाल हिमखंड अपनी आधार-चट्टान के साथ टूटकर नीचे लुढ़का। उसके पानी, हिमोड़ (मोरेन), मिट्टी, पत्थर और चट्टानों के मलवे ने पूरे ब्लैटन गांव को दफन कर दिया। यह विकराल तबाही थी, लेकिन उसमें केवल एक व्यक्ति की मौत हुई। पूर्व चेतावनी, तैयारियों और त्वरित बचाव कार्यों के कारण यह संभव हुआ। वहां ऐसे खतरों के संकेत पढ़ लेने की व्यवस्था है।

अगस्त के अंतिम सप्ताह में तिब्बत और नेपाल में हिमखंड और ग्लेशियर-झील के टूटने से हुई जानमाल की क्षति का तो आकलन होने में अभी बहुत वक्त लगेगा। अब तक की सूचना के अनुसार एक हजार से अधिक मौतें हो चुकी हैं और करीब चार हजार लोग लापता हैं।

उच्च हिमालय में हाल के वर्षों में ऐसी कई आपदाएं हो चुकी हैं- 2013 में चोरबाड़ी-केदारनाथ, 2021 में ऋषिगंगा-चमोली, 2023 में ल्होनाक-उत्तरी सिक्किम, 2025 में क्षीरगंगा-धराली के भीषण हादसों की स्मृति रोंगटे खड़े कर देती है। सैकड़ों जानें गईं, कितने गांव और पनबिजलीघर बहे या दफन हो गए।

किसी भी हादसे की कोई पूर्व चेतावनी या संकेत नहीं। बचाव की तैयारियां क्या होतीं!

यह जानते हुए भी कि आल्प्स और हिमालय की संरचना और प्रकृति में काफी अंतर है, यह पूछना सामयिक है कि सुदूर संवेदन उपग्रहों, ग्लेशियर-विज्ञान, हिमालय-अध्ययन, भू-विज्ञान और इनसे संबद्ध विविध शोधों तथा आईआईटी एवं आईएससी के कई गहन अध्ययनों के बाद भी क्या ऐसे हादसों की तनिक पूर्व चेतावनी की व्यवस्था नहीं की जा सकती? या कि यह हमारी प्राथमिकता में ही नहीं है?

हिमालय की चोटियां, दर्रे और नदियां अंतरराष्ट्रीय सीमाएं बनाते हैं। कई कोनों से यह भी आरोप लगाया गया कि चीन ने हादसा हो जाने पर भी नेपाल को चेताया होता तो 3-40 मिनट में सैकड़ों जानें तो बच ही जातीं। चीन तो बंद समाज है, क्या भारत-नेपाल-पाकिस्तान में भी ऐसी कोई संधि या समझ है? या, क्या ऐसी व्यवस्था बनाने पर विचार भी कहीं हो रहा है?

*

साढ़े छह हजार फुट की ऊंचाई पर तीन तरफ ऊंची-ऊंची चोटियों से घिरी बिरही घाटी (गढ़वाल, उत्तराखंड) के बीच से बहने वाली नदी भी बिरही कहलाती है। 1893 के एक दिन किसी चोटी से एक विशाल चट्टान नीचे गिरी और बिरही नदी के उस मुहाने पर जा बैठी जहां से वह नीचे बहती थी। नदी का प्रवाह रुक गया। पहाड़ों के बीच झील बनने लगी। ब्रिटिश सरकार के अधिकारी-इंजीनियर खबर पाकर जब वहां पहुंचे, तब तक एक मील चौड़ी, पांच मील लंबी और चार सौ गुट गहरी झील बन गई थी। एक गांव के नाम पर इसे 'गौना लेक' कहा गया।

अंग्रेज इंजीनियरों ने इसे बहुत बड़ा खतरा मानते हुए वहां एक तार घर बनवा दिया ताकि जब भी झील टूटने को हो, नीचे घाटियों तक खतरे की घंटी बजाई जा सके। एक दिन वह झील टूट गई। खतरे की घंटी से नीचे हरिद्वार तक जनता को सावधान कर दिया गया था।

उस साल यानी 1894 में गौना झील सौ फुट तक ही टूटी थी। तीन सौ फुट गहरी झील बाद तक बनी रही। 20 जुलाई 1970 को वह हरहराकर पूरी टूट गई। देश को आज़ाद हुए कई साल हो चुके थे लेकिन ढहते पहाड़, गिरते पेड़, लुढ़कती चट्टानों और मिट्टी के अथाह मलबे से जनता को आगाह करने के लिए तब न तार घर बचा था, न चेतावनी देने का कोई दूसरा इंतजाम। हरिद्वार तक मची तबाही का खौफनाक मंजर कागजों में दर्ज़ है।

*

भूस्खलन से पहाड़ी नदियों में बनने वाली झीलों के फटने से आज भी बहुत तबाहियां और मौतें लगभग हर साल होती हैं। उनके खतरे से सचेत करने की मुकम्मल व्यवस्था आज भी नहीं है। तब उच्च हिमालय के विशाल ग्लेशियरों के भीतर हो रही हलचलों को पढ़कर चेतावनी देने के इंतज़ाम करने की अपेक्षा कैसे की जाए! ग्लेशियरों के बीच बनी-बढ़ती हुई झीलों के खतरों पर भी हम नज़र नहीं रख पा रहे।

विशेषज्ञ बताते हैं कि ऐसा कर पाना आसान नहीं है। हिमालय में ग्लेशियर करीब 48 हजार किलोमीटर क्षेत्रफल में फैले हैं और अध्ययनकर्ताओं के अनुसार उसमें 5000 से अधिक झीलें हैं। इनमें करीब 500 खतरनाक बताई गई हैं। हिमालय और काराकोरम पर्वतों के बीच ग्लेशियर-झीलों के टूटने की 388 घटनाएं रिकॉर्ड की जा चुकी हैं, जिनसे अचानक बाढ़ें आईं। केदारनाथ, चमोली, सिक्किम और धराली के हादसे ऐसी ही ग्लेशियर-झीलों के टूटने के कारण हुए।

ऐसे हादसे बढ़ते जा रहे हैं और विकराल भी हो रहे हैं। विशेषज्ञ कहते हैं कि नेपाल में जो भीषण आपदा आई, वैसा पिछले हजार साल में भी शायद ही हुआ हो।

ऊपर से शांत दिखते ग्लेशियरों के भीतर कई प्रकार की हलचलें होती रहती हैं। ध्यान रहे कि हमारा हिमालय नया यानी बच्चा पहाड़ है जो अब भी ऊपर उठ रहा है। इसीलिए इसे सबसे नाजुक पहाड़ कहा जाता है। 'विकास' की अनियंत्रित होड़ और मानव आबादी के दबाव भी इसे प्रभावित करते हैं। बढ़ता वैश्विक तापमान तो बड़ा खतरा है ही। ग्लेशियर गलते हुए पीछे सरक रहे हैं। कई ग्लेशियर हवा में लटके बम बन गए हैं।

आईआईटी, भुवनेश्वर और भारतीय विज्ञान संस्थान, बेंगलूरु का एक हालिया अध्ययन बताता है कि अकेले अलकनंदा घाटी के ऊपरी शिखरों पर 219 'हैंगिंग' ग्लेशियरों की पहचान की गई है। इन पर सतर्क निगाह रखने की आवश्यकता है।

यह भूसे में सुई ढूंढने जैसा जरूर है, लेकिन असंभव नहीं है। इसके लिए काफी धन, तंत्र और इच्छा शक्ति चाहिए। इस पर खर्च बार-बार होने वाली मौतों, विनाश के बाद राहत और पुनर्वास में होने वाले खर्च की तुलना में बहुत कम होगा। अकेले उत्तरी सिक्किम में ल्होनाक ग्लेशियर-झील के टूटने से दो खरब 50 अरब रुपये के नुकसान का आकलन किया गया था।

भारत सरकार ने अंतरिक्ष अध्ययन केन्द्रों की सहायता से ग्लेशियरों और उनके मध्य बनी झीलों का अध्ययन और चिह्नीकरण शुरू कराया है। असली काम चिह्नित ग्लेशियरों की सतत निगरानी का है। इसके लिए सुदूर संवेदन उपग्रहों से प्राप्त होने वाले संकेतों से मदद मिल सकती है। आल्प्स पर्वतमाला में जिस प्रकार अध्ययन, चिह्नांकन और निगरानी की जा रही है, उन देशों से सीखने और मदद लेने की जरूरत है।

और, जैसा कि एक अमेरिकी विज्ञानी और अध्ययनकर्ता ऑस्टिन लॉर्ड का सुझाव है कि स्थानीय समाजों, भेड़पालकों, गूजरों, मछुआरों को भी इसमें शामिल करना चाहिए, क्योंकि उनके पास खतरों के संकेत समझने का पीढ़ियों का अनुभवजन्य ज्ञान होता है। ■

असली काम चिह्नित ग्लेशियरों की सतत निगरानी का है। इसके लिए सुदूर संवेदन उपग्रहों से प्राप्त होने वाले संकेतों से मदद मिल सकती है

नवीन जोशी प्रख्यात पत्रकार और लेखक हैं

उत्तराखंड एसआईआर में भी वही खेल

पेज एक का शेष

संडे नवजीवन के पास मौजूद दस्तावेजों के मुताबिक, किच्छा में कुल 10,858 फॉर्म-7 भरे गए हैं, जिनमें से अकेले राजेश तिवारी ने 6,410 फॉर्म-7 भरे हैं। हिन्दुस्तान अखबार की एक रिपोर्ट के हवाले से न्यूजलॉन्ड्री ने राजेश तिवारी को भाजपा के बीएलए के तौर पर पहचाना है। इस सीट पर 2022 चुनाव में कांग्रेस के तिलकराज बेहर ने भाजपा के राजेश शुक्ला को 9 हजार से ज्यादा वोटों से मात दी थी।

तिवारी ने जिनलोगों के खिलाफ आपत्तियां लगाई हैं, उनमें रईस अहमद भी हैं। इन्हें शिफ्टेड बताया गया है। रईस कहते हैं कि 'मैं 60 वर्ष का हूं। किच्छा में मेरी पैदाइश है। मैंने दो बार पंचायत चुनाव लड़ा और हरीश रावत की सरकार में राज्यमंत्री भी रहा। मुझे अभी तक कोई नोटिस नहीं मिला है, न ही बीएलओ ने मुझे सूचित किया है। किच्छा में 45 से 50 हजार मुस्लिम वोटर हैं, पिछले चुनाव में भाजपा यह सीट हार गई। इसलिए वह मुस्लिमों वोटरों को हटाना चाहते हैं।'

न्यूजलॉन्ड्री ने पाया कि किच्छा की तरह ही गदरपुर, खटीमा, नानकमत्ता, रुद्रपुर और झबरेड़ा में भी भाजपा कार्यकर्ताओं ने मुस्लिम मतदाताओं को टारगेट करते हुए बड़ी संख्या में आपत्ति फॉर्म भरे हैं।

विपक्ष के इस मामले को उठाने पर उत्तराखंड के चीफ इलेक्शन ऑफिसर (सीईओ) ने इन आपत्ति फॉर्म को डी-डुप्लीकेशन सॉफ्टवेयर से जांचने की बात की। उत्तराखंड में एसआईआर को लेकर ऑल इंडिया कांग्रेस कमिटी (एआईसीसी) द्वारा बनाई गई समिति के चेयरमैन मनोज रावत कहते हैं कि 'सीईओ ने राज्य के सीमावर्ती इलाकों में डी-डुप्लीकेशन सॉफ्टवेयर के जरिये डेमोग्राफिक सिमीलर एंट्री (डीएसई) और फोटोग्राफिक सिमीलर एंट्री (पीएसई) जांचने की बात की, जबकि हमारा कहना है कि सिर्फ उत्तराखंड में यह सॉफ्टवेयर क्यों चलाया जा रहा है? बूथ की जिम्मेदारी तो बीएलओ की है, फिर गड़बड़ियां कैसे हुईं? आपको डीएसई जांचनी है तो सॉफ्टवेयर पूरे देश की मतदाता सूची पर चलाओ।'

वैसे, ध्यान रहे कि 24 नवंबर 2025 को सुप्रीम कोर्ट में दाखिल हलफनामे में चुनाव आयोग ने कहा था कि उसका डी-डुप्लीकेशन सॉफ्टवेयर इतना खराब है कि उसे पूरी तरह खारिज कर दिया गया है। आयोग ने कोर्ट में कहा था कि 'सॉफ्टवेयर के परिणामों की सटीकता में भिन्नता थी, और वह बड़ी संख्या में संदिग्ध डीएसई से जुड़ी जानकारियों को डुप्लीकेट के तौर पर चिह्नित नहीं कर पाया। सॉफ्टवेयर का इस्तेमाल आखिरी बार 2023 में किया गया था।'

एक अन्य बात उल्लेखनीय है। विपक्ष के दबाव पर उत्तराखंड में चुनाव आयोग ने कई जगह आपत्तिकर्ता और संबंधित मतदाता को नोटिस जारी कर सुनवाई के लिए बुलाया। बावजूद इसके आपत्तिकर्ता मौके पर नहीं पहुंचे।

मंगलौर में कांग्रेस के बीएलए-1 ने ईआरओ को दी गई अपने लिखित आवेदन में कहा कि 17 अगस्त 2026 को सुबह 11 बजे का समय सुनवाई के लिए सुनिश्चित किया गया था, लेकिन जिस मतदाता के खिलाफ आपत्ति लगाई गई थी, वह तो पहुंचा, लेकिन आपत्तिकर्ता नहीं पहुंचा। उनका कहना है कि संबंधित मतदाता के मौके पर पहुंचने के बावजूद चुनाव आयोग ने न तो उन्हें फॉर्म-7 दिया और न ही उसे दिखाया।

इसी कारण मंगलौर विधायक काजी निजामुद्दीन पूछते हैं कि 'क्या चुनाव आयोग ने आपत्तिकर्ताओं को भी नोटिस सर्व किया? अगर आपत्तिकर्ता ही मौजूद नहीं है, तो उसकी आपत्ति पर सुनवाई कैसे हो सकती है? पहले चुनाव आयोग ने इन्हीं वोटरों के दस्तावेजों की जांच और सत्यापन किया था। अब उन्हीं दस्तावेजों की दोबारा जांच करना क्या आयोग की अपनी पिछली प्रक्रिया पर ही सवाल नहीं है?'

इनमें सबसे खास बात। कई लोगों ने हलफनामा देकर कहा है कि उन्होंने किसी के खिलाफ आपत्ति नहीं लगाई और उनके नाम से किसी और ने आपत्ति लगा दी है। हरिद्वार जिले की झबरेड़ा सीट पर 36 लोगों ने फॉर्म-7 के तहत 1,821 आपत्तियां दर्ज कराई हैं। हिन्दुस्तान की रिपोर्ट के मुताबिक, इनमें से 35 लोगों ने हरिद्वार जिला प्रशासन को हलफनामा को देकर कहा है कि उन्होंने ऐसी कोई आपत्ति नहीं लगाई है।

चुनाव आयोग द्वारा जारी फॉर्म-7 में लिखा है कि झूठी जानकारी/घोषणा देना लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम 1950 की धारा 31 के तहत दंडनीय है। इसके तहत एक साल तक की जेल, या जुर्माना, या दोनों हो सकते हैं। फॉर्म 7 में किसी दूसरे मतदाता के नाम पर आपत्ति/डिलीशन मांगने पर दिए गए कारण को साबित करने की जिम्मेदारी आवेदक की होती है। लेकिन चुनाव आयोग ने किसी दूसरे व्यक्ति के नाम पर किसी योग्य मतदाता के खिलाफ आपत्ति लगाने वाले आवेदक के खिलाफ कोई कार्रवाई अब तक तो नहीं की है। ■

एसआईआर की मार

15,00,00,000

चुनाव आयोग की यह प्रक्रिया पूरी होने तक, एसआईआर इतने ही वयस्क भारतीयों को वोट देने के अधिकार से अयोग्य घोषित कर देगा। इस अफ़रातफ़री पर ए. जे. प्रबल की रिपोर्ट

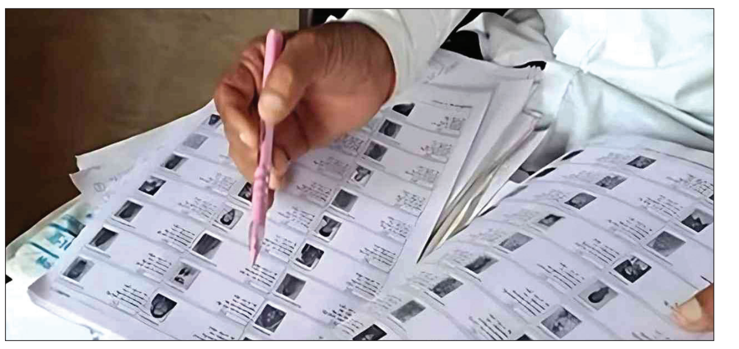

ज़रा ठहरें: भारत में मतदाता सूची के सघन पुनरीक्षण (एसआईआर) के तीन चरणों में अब तक 13 करोड़ नाम बाहर हो चुके हैं। अनुमान है कि जब तक प्रक्रिया पूरी होगी, संख्या बढ़कर 15 करोड़ हो चुकी होगी। भारत की अनुमानित वयस्क (वोट देने की उम्र वाली) आबादी 97 से 99 करोड़ है।

अब ये आंकड़े देखें:

एसआईआर के तीसरे चरण में शामिल महाराष्ट्र में कुल संख्या में सबसे ज्यादा गिरावट दिखी जहां 2.07 करोड़ (या 21 प्रतिशत) नाम कटे। उत्तर प्रदेश (एसआईआर/दूसरा चरण) में 2.04 करोड़ (लगभग 19 प्रतिशत) नाम कटे और कर्नाटक (एसआईआर/तीसरा चरण) में 1.07 करोड़ नाम (19.5 प्रतिशत)। देश में नाम हटाने के मामले में तीनों राज्य शिखर पर हैं।

महाराष्ट्र के लिए 31 अगस्त को जारी एसआईआर ड्राफ्ट मतदाता सूची में 7.72 करोड़ मतदाता हैं, जो राज्य में एसआईआर पूर्व के आधार से 2.06 वोटर कम हैं। दिलचस्प यह कि, जैसा सांसद और कांग्रेस के राष्ट्रीय प्रवक्ता पवन खेड़ा ने बताया, मई 2024 में लोकसभा चुनाव और उसी साल बाद में हुए विधानसभा चुनाव के बीच, उसी आयोग के पास राज्य की मतदाता सूची में 40 लाख नए मतदाता जोड़ने के कारण मौजूद थे। तब कांग्रेस और अन्य विपक्षी दलों ने पांच महीनों में हुई इस असामान्य वृद्धि पर सवाल उठाए थे, और चुनाव आयोग ने सभी नए नामों को सही और वैध बताया था।

दिल्ली (तीसरा चरण) में गिरावट का प्रतिशत अप्रत्याशित रूप से सबसे ज्यादा रहा- यहां एसआईआर पूर्व के कुल मतदाताओं में से लगभग 33 प्रतिशत ड्राफ्ट रोल से बाहर हो गए हैं। यानी हर तीन में से लगभग एक। यहां कामकाजी प्रवासियों की बड़ी आबादी है, और 'द वायर' की स्टडी बताती है कि दिल्ली में जिन 47.56 लाख लोगों के नाम हटे, उनमें ज्यादातर काम करने की उम्र वाले पुरुष थे, जो अस्थायी आवासों में रहते थे; और मुख्य रूप से पूर्वांचल के प्रवासी ब्लू-कॉलर वर्कर थे।

दिल्ली में 91प्रतिशत नाम हटने की वजह रही कि अधिकारी संबंधित व्यक्ति को तलाश नहीं पाए। नाम हटाने के पीछे चार में से कोई एक कारण होता है- अनुपस्थित, अन्यत्र चले जाना, मृत्यु या डुप्लिकेट। दिल्ली में दो कारण सबसे ज्यादा अहम रहे: 'हमेशा के लिए अन्यत्र चले जाना' की वजह से 31.6 लाख (लगभग तीन में से दो) नाम हटाए गए, जबकि 'पता न चलने या अनुपस्थित' के तर्क पर 11.7 लाख (चार में से एक) नाम हटे। दोनों कारणों से दिल्ली में कुल 91 प्रतिशत नाम हटाए गए। 'मृत्यु' की वजह से 6 प्रतिशत से कम और 'डुप्लिकेट' रजिस्ट्रेशन के कारण 3 प्रतिशत से कम नाम हटे हैं।

बेंगलुरु के पांच निर्वाचन क्षेत्रों में आधे से ज्यादा मतदाता घट गए, जबकि हैदराबाद के 15 निर्वाचन क्षेत्रों में से नौ में 40 प्रतिशत से ज्यादा नाम हटे हैं। कोलकाता स्थित पब्लिक पॉलिसी रिसर्च से जुड़ी संस्था, सबर इंस्टीट्यूट ने पाया कि हैदराबाद के दो निर्वाचन क्षेत्रों में नाम हटाने की संख्या पिछले चुनाव में डाले गए वोटों की संख्या से ज्यादा है।

आयोग कहता है कि लिस्ट में किसी गड़बड़ी की स्थिति में मतदाता अपील करके नाम वापस जुड़वा सकते हैं। लेकिन चुनाव पूर्व और बाद में मतदाताओं के धक्के खाने की कहानियां गवाह हैं कि यह इतना भी आसान नहीं। मालदा (पश्चिम बंगाल) के सांसद ईशा खान चौधरी की आरटीआई के जवाब में आयोग का दावा है कि 'अयोग्य' घोषित 27 लाख मतदाताओं में से- मैपिंग, दस्तावेज जमा करने और सुनवाई में शामिल होने के बाद- सिर्फ 7 लाख वोटर ही मतदाता सूची में अपना नाम बहाल करवाने अपील ट्रिब्यूनल के पास गए। शेष 31 लाख लोग परोक्ष रूप से चाहते हैं कि उनका या अन्य मतदाताओं के नाम सूची से हटा दिए जाएं! (पश्चिम बंगाल अकेला राज्य है जहां सुप्रीम कोर्ट के आदेश पर 19 अपील ट्रिब्यूनल बने थे, क्योंकि वहां की अंतिम सूची में भी 27 लाख मतदाता लिस्ट बाहर रह गए थे। अन्य राज्यों में अपील स्थानीय चुनाव अधिकारियों के पास करनी पड़ती है।)

17 अगस्त 2026 का आरटीआई जवाब कहता है कि राज्य में दायर 38,10,620 (38.1 लाख) अपीलों में से 7 अगस्त तक सिर्फ 82,782 (2.17 प्रतिशत) का ही निपटारा हुआ था। यही रफ्तार है, फिर तो बाकी मामले निपटाने में 20 साल से भी ज्यादा लगेंगे! दिलचस्प यह कि जिन अपीलों पर फैसला हुआ, उनमें से 75,443 मामलों (लगभग 91 प्रतिशत) में ट्रिब्यूनल ने नाम बहाली का आदेश दिया है। आरटीआई से यह भी पता चला कि 20 लाख से ज्यादा अपीलें खुद आयोग ने दायर की थीं, जिनमें उन वोटरों के नाम शामिल करने को चुनौती दी गई थी, जिन्हें न्यायिक अधिकारी जांच-पड़ताल के दौरान पहले ही मंज़ूरी दे चुके थे।

पाठकों को याद होगा, आयोग ने नियम-कानूनों के सख्ती से पालन के बजाय, इस प्रक्रिया के एक चरण से दूसरे चरण में जाते हुए मौके और सुविधा के हिसाब से नियम बनाए हैं। एसआईआर पर कई खुलासों और उनसे उठे गंभीर सवालों के बावजूद, सुप्रीम कोर्ट ने इसे क्लीन चिट दी है। कोर्ट ने तो यह भी कहा कि जिन लोगों के नाम गलत तरीके से हटे, उन्होंने विरोध क्यों नहीं किया। यहां कुछ ऐसी ही बातें या विसंगतियां बताई गई हैं जिन पर शायद माननीय न्यायाधीश विचार करना चाहेंगे:

- आयोग ने नाम हटाने के लिए कोई लिखित कारण नहीं दिए और न ही एसआईआर के अनुसार 'अनुपस्थित' मतदाताओं को 'अन्यत्र चले जाने वाले' वोटरों से साफ तौर पर अलग किया है। मतदाता सूची पर इसकी नियमवाली (2023) साफ कहती है कि 'अनुपस्थित मतदाता वह व्यक्ति है जो [...] अपने सामान्य निवास स्थान से, जहां वह बतौर मतदाता रजिस्टर्ड है, कुछ समय के लिए अनुपस्थित हो। [...] लेकिन उसका नाम नहीं हटाया जा सकता, क्योंकि मौजूदा कानून के अनुसार, कोई व्यक्ति जो अपने सामान्य निवास स्थान से कुछ समय के लिए अनुपस्थित है, सिर्फ इस वजह से वह वहां का सामान्य निवासी नहीं रह जाता, ऐसा नहीं है।' यह परिभाषा उनके नाम हटाने की कानूनी वैधता पर सवाल उठाती है जो गिनती के समय अनुपस्थित थे।
- मतदाता सूची से नाम हटाने या नया नाम शामिल करने पर आपत्ति जताने के लिए 'फॉर्म 7' भरने के नियमों में क्रमशः ढील दी गई। 2023 में हर बीएलए (बूथ-लेवल एजेंट) के लिए रोजाना अधिकतम 10 आवेदन की सीमा थी, जो 2025 में बढ़कर 50 और 2026 में असीमित हो गई (पांच से ज्यादा पर समीक्षा की बात है)। उत्तराखंड में (देखें पेज 1) भाजपा कार्यकर्ताओं ने मतदाताओं के नाम हटाने को बड़ी संख्या में आवेदन किए हैं। किच्छा में नाम हटाने के 99 प्रतिशत अनुरोध एक ही भाजपा बीएलए की तरफ से आए, जिसने 4,855 आपत्तियां दर्ज कराईं, सभी मुस्लिम वोटरों के खिलाफ थीं। न्यूजलॉन्ड्री के मुताबिक, हरिद्वार के झबरेड़ा में, 1,657 आपत्तियों में आवेदक के तौर पर जिन 35 लोगों के नाम थे, उनका हलफनामा देकर कहना था कि उन्होंने कभी ये आपत्तियां दर्ज ही नहीं कराईं और उनके नाम का गलत इस्तेमाल हुआ।
- बीएलए-1 और बीएलए-2 फॉर्म के इस्तेमाल और बूथ लेवल एजेंट (बीएलए) की जिम्मेदारियों को लेकर कानूनी विवाद हैं। दिल्ली हाईकोर्ट ने 3 सितंबर 2026 को बीएलए पर थोपा गया एक प्रशासनिक आदेश रद्द कर दिया। राजनीतिक दलों ने उस नियम के खिलाफ याचिकाएं दायर कीं, जिसके तहत बीएलए-2 फॉर्म से नियुक्त एजेंटों को शपथ-पत्र देकर प्रमाणित करना होता था कि उन्होंने घर-घर जाकर जानकारी जुटाने वाले फॉर्म (एन्यूमरेशन फॉर्म) में दी गई 'हर एक जानकारी' की व्यक्तिगत रूप से पुष्टि की है। जस्टिस अमित बंसल ने फैसला सुनाया कि बीएलए एसआईआर एन्यूमरेशन फॉर्म में मौजूद डेटा की पुष्टि के लिए जिम्मेदार नहीं हैं और डेटा की पुष्टि करना सरकारी अधिकारियों का कानूनी कर्तव्य है, न कि पार्टी कार्यकर्ताओं का।

एसआईआर वोटर लिस्ट अब भी मशीन से पढ़ने लायक नहीं हैं और उनमें बूथ/चुनाव क्षेत्र से जुड़ी अहम जानकारियां नहीं हैं।

आयोग से जवाब मांगने के लिए और ज्यादा क्या चाहिए, माननीय न्यायाधीश महोदय? ■

एसआईआर की प्रक्रिया के दौरान भी नियमों में अचानक बदलाव किए गए हैं। चुनाव पूर्व और बाद में मतदाताओं के धक्के खाने की कहानियां गवाह हैं कि कितनी परेशानियां आ रही हैं

इस समाचारपत्र का प्रकाशन **पवन कुमार बंसल** द्वारा हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-11002 से **दि एसोसिएटेड जर्नल्स लिमिटेड**, हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-110002
की ओर से संपादन **राजेश झा** द्वारा और मुद्रण आर. सी. मल्होत्रा द्वारा दि इंडियन एक्सप्रेस (प्रा.) लिमिटेड प्रेस, ए-8, सेक्टर-7, नोएडा- 201301, उत्तर प्रदेश से किया जा रहा है।

विरोध पर समर्पण का दोहराता सिलसिला

पूरे भारत में फैल रहे विरोध-प्रदर्शन अब महाराष्ट्र के आदिवासी छात्रों के हॉस्टलों तक भी पहुंच गए हैं

जयदीप हर्डीकर

धनोरा के जप्तलाई आश्रम स्कूल में सांप के काटने से तीन लड़कियों की मौत के बाद आदिवासी छात्र धरने पर बैठ गए

महाराष्ट्र के गढ़चिरौली जिले के एक आवासीय विद्यालय में तीन आदिवासी छात्राओं की सांप के काटने से हुई मौत से महज पांच दिन पहले, देवेंद्र फडणवीस सरकार ने आदेश जारी किया था कि हर आदिवासी छात्रावास में खाट, गद्दे, कंबल और तकिए होने चाहिए। लेकिन उन बदकिस्मत बच्चियों के पास इनमें से कुछ भी नहीं था।

10 अगस्त की रात, धानोरा तहसील के जपतलाई आश्रम स्कूल में फर्श पर सो रही छह छात्राओं को जहरीले सांप ने काट लिया। तीन की मौत हो गई। बाकी तीन में 14 साल की समृद्धि की हालत अब भी गंभीर है। उसे नागपुर के अस्पताल रेफर किया गया है। 15 दिनों के भीतर, सरकार ने स्कूल का लाइसेंस रद्द कर दिया और करीब 500 सरकारी सहायता प्राप्त आदिवासी आवासीय स्कूलों के ऑडिट का आदेश दिया।

उधर, हाल ही में दिल्ली में हुए छात्र आंदोलन से संभवतः प्रेरणा लेकर आक्रोशित आदिवासी छात्र सड़क पर उतर आए। उनकी मांग मृत छात्राओं के परिवारों को मुआवजा देने तक सीमित नहीं थीं। 17 दिनों तक छात्र पुणे के मांजरी में भूख हड़ताल पर बैठे रहे। धीरे-धीरे नागपुर, नासिक और महाराष्ट्र के अन्य हिस्सों के छात्र भी अपने-अपने शहरों में इस आंदोलन से जुड़ गए। प्रदर्शन का आकार बढ़ता गया और स्वर तीखे होते गए। 29 अगस्त को मुख्यमंत्री देवेंद्र फडणवीस ने उनकी सभी मांगें स्वीकार कर लीं और लिखित आश्वासन दिया कि वह तीन महीने के भीतर वादों के अमल की समीक्षा करेंगे।

गढ़चिरौली की त्रासदी ऐसी अकेली घटना नहीं। अधिकारियों ने बाद में खुलासा किया कि महाराष्ट्र की सरकारी या सहायता प्राप्त 'आश्रमशालाओं' में दो सालों में 584 छात्रों की मौत हुई है, जिनके कारणों में बीमारी और दुर्घटनाओं से लेकर सांप का काटना और आत्महत्या तक शामिल हैं।

छात्रों ने इस चेतावनी के साथ अपनी हड़ताल फिलहाल वापस ले ली है कि अगर सरकार ने वादा पूरा नहीं किया तो वे फिर विरोध प्रदर्शन शुरू कर देंगे। छात्रावासों, भोजन की व्यवस्था, छात्रवृत्ति और ऐसे ही अन्य मुद्दों को प्रभावित करने वाले तमाम सरकारी नियमों और आदेशों को लेकर पिछले कुछ वर्षों से उनका असंतोष लगातार बढ़ रहा था, जो सामूहिक रूप से आदिवासी शिक्षा के प्रति सरकार के पूरे रवैये की पोल खोलते हैं।

हाल ही में फडणवीस सरकार द्वारा आदिवासी छात्रावासों के लिए लागू किए गए नए नियमों को ही लें। 5 अगस्त को छात्रावास सुविधा पाने के लिए अधिकतम आयु सीमा 26 वर्ष तय की गई, लेकिन प्रदर्शनों के बाद इसे पहले 39 साल किया गया और फिर 25 अगस्त को उम्र सीमा ही हटा दी गई। छात्रों ने सवाल उठायाः 26, 28 या 39 साल की उम्र में उच्च शिक्षा हासिल कर रहा आदिवासी छात्र छात्रावास के लिए भला क्यों अयोग्य होना चाहिए? आदिवासी छात्र अनिवार्य रूप से उस तय कैलेंडर के अनुसार पढ़ाई पूरी नहीं कर पाते जिसे सरकार सामान्य मानती है। गरीबी, स्कूल की दूरी, खराब स्कूली शिक्षा, पारिवारिक जिम्मेदारियां और पढ़ाई में आने वाले व्यवधान किसी छात्र के कॉलेज के वर्षों को पारंपरिक उम्र से काफी आगे धकेल देते हैं।

किसी सुदूर गांव के आदिवासी छात्र के लिए कॉलेज में दाखिला मिल जाना ही बंधनों से मुक्त होने के लिए काफी नहीं। राज्य को इन छात्रों के लिए भोजन, किताबें, दवाइयां और रहने- पढ़ने की जगह जैसी बुनियादी जरूरतों में मदद देकर कॉलेज में बने रहना संभव बनाना होगा। किसी दूरदराज के आदिवासी गांव के छात्र के लिए छात्रावास की सुविधा न मिलने का सीधा मतलब उच्च शिक्षा के सपनों का टूट जाना हो सकता है।

उम्र के इन प्रतिबंधों के अलावा, फडणवीस सरकार ने हर प्रकार के विरोध प्रदर्शनों पर भी पाबंदियां लगा दी थीं और 'आदिवासी अधिकार बचाव कृति समिति' के मुताबिक, सरकार राज्य के सभी आदिवासी छात्रावासों का प्रबंधन भाजपा/आरएसएस के करीबी लोगों द्वारा संचालित एक पब्लिक चैरिटेबल ट्रस्ट को आउटसोर्स करने का इरादा रखती थी।

*

महाराष्ट्र ने अप्रैल 2018 में मुख्यमंत्री के रूप में फडणवीस के पहले कार्यकाल के दौरान सरकारी आदिवासी छात्रावासों को पारंपरिक कैंटीन प्रणाली से हटा दिया था और भोजन खर्च के लिए डायरेक्ट बेनिफिट ट्रांसफर (डीबीटी) की शुरुआत की थी। सरकार या ठेकेदारों द्वारा भोजन उपलब्ध कराने के बजाय पैसा सीधे छात्रों के खातों में जाना था। यह पैसा कभी समय पर नहीं पहुंचता। (यह अलग बात है कि अगर पैसा आ भी जाए, तो संसाधनों की इतनी भारी कमी के बीच उस पैसे का इस्तेमाल अन्य जरूरतों में हो जाता, जबकि रियायती भोजन की अपनी एक अलग सुरक्षा और निश्चिंतता होती है।)

महाराष्ट्र में आदिवासी छात्रों के लिए योजनाओं की कोई कमी नहीं है। कमी है तो बस उन्हें लागू करने की इच्छाशक्ति की

आदिवासी छात्रों ने बार-बार डीबीटी भुगतानों और छात्रवृत्ति में देरी की शिकायत की। कभी-कभी यह देरी दो साल तक भी खिंच जाती। कुछ छात्रों को कर्ज लेना पड़ा या छात्रावास छोड़ना पड़ा क्योंकि वे भोजन और दैनिक खर्च उठाने में असमर्थ थे, या फिर स्थानीय भोजनालयों पर आश्रित हो जाते जो अमूमन उन्हें तीन महीने से अधिक का उधार नहीं दिया करते। आदिवासी छात्रों के लिए निर्धारित फंड को 'लाड़की बहिन योजना' जैसी अन्य लोकलुभावन योजनाओं में डायवर्ट करने की खबरें भी आई थीं। छात्रों के भारी आक्रोश के बाद, अब राज्य सरकार ने भरोसा दिया है कि डीबीटी प्रणाली को खत्म किया जाएगा और इन छात्रावासों में स्थानीय रसोई फिर शुरू की जाएगी।

महाराष्ट्र में लगभग 500 सरकारी आदिवासी छात्रावास हैं, जिनमें सुदूर गांवों के 58-60 हजार गरीब छात्र रहते हैं। लेकिन इन छात्रावासों में स्टडी रूम, लाइब्रेरी, कंप्यूटर और इंटरनेट की सुविधा का अभाव है और अक्सर पीने का साफ पानी तथा चालू शौचालय जैसी बुनियादी सुविधाएं भी नहीं मिलतीं। छात्र चाहते हैं कि छात्रावासों को शैक्षणिक संस्थानों, पुस्तकालयों और अस्पतालों के नजदीक तथा सार्वजनिक परिवहन की पहुंच वाले इलाकों में स्थानांतरित किया जाए।

*

22 अगस्त को पुणे में कांग्रेस पार्टी के 'छात्रों की गूंज' कार्यक्रम में निशा साबले नाम की आदिवासी छात्रा के बयान ने तूफान खड़ा कर दिया। साबले ने बताया कि महाराष्ट्र के आदिवासी छात्रावासों में छुट्टियों से लौटने वाली छात्राओं का जबरन प्रेगनेंसी टेस्ट कराया जा रहा था। यह मामला पहली बार पिछले साल के अंत में सामने आया था और राज्य के आदिवासी कल्याण विभाग द्वारा इसकी जांच के आदेश दिए गए थे।

इस मामले में दस्तावेजी रिकॉर्ड बेहद कम हैं। छात्रावास के छात्रों के स्वास्थ्य परीक्षण संबंधी सरकारी नियमों में ऐसे किसी प्रेगनेंसी टेस्ट का प्रावधान नहीं है। स्थानीय आदिवासी विकास अधिकारियों ने बताया है कि उन्होंने ऐसा कोई आदेश जारी नहीं किया है। लेकिन 23 सितंबर 2025 को महाराष्ट्र राज्य महिला आयोग द्वारा पुणे के वाकड स्थित आदिवासी बालिका छात्रावास के औचक निरीक्षण के अगले ही दिन, पुणे के सिविल सर्जन ने मीडिया को बताया कि छुट्टियों से लौटने वाली लड़कियों का प्रेगनेंसी टेस्ट के लिए चिकित्साकर्मियों को मौखिक निर्देश दिए गए थे।

अब भी इसका पता नहीं कि ये जांच किसके कहने पर कराए जा रही थी और अगर इस आशय का कोई लिखित आदेश नहीं था, तो मौखिक निर्देश किसने दिया था? हालांकि, यह बात पूरी तरह अविश्वसनीय लगती है कि बिना किसी उच्च स्तरीय निर्देश के राज्य के कई आदिवासी छात्रावासों में ऐसे परीक्षण किए गए हों।

*

प्रदर्शनकारी आदिवासी छात्रों ने अनुसूचित जनजाति (एसटी) उम्मीदवारों के लिए आरक्षित हजारों रिक्त पदों को भरने की भी मांग की है। राज्य में ऐसे लगभग 12,500 पद खाली पड़े हैं। उन्होंने फर्जी जाति प्रमाण पत्रों और पेसा (अनुसूचित क्षेत्रों में रहने वाले आदिवासी समुदायों के स्व-शासन को बढ़ावा देने वाला राष्ट्रीय कानून) के तहत एसटी आरक्षण और भर्तियों के संरक्षण का मुद्दा भी उठाया है। असली एसटी उम्मीदवारों को अक्सर अपने दर्जे को प्रमाणित कराने के लिए भारी संघर्ष करना पड़ता है, जबकि फर्जी प्रमाण पत्र एसटी के लिए आरक्षित पदों पर कब्जा कर लेते हैं।

महाराष्ट्र में आदिवासी छात्रों के लिए योजनाओं की कमी नहीं। सरकारी विभाग हैं, पोर्टल हैं, कल्याणकारी योजनाएं हैं और इसके लिए जिम्मेदार अधिकारी भी हैं। असली समस्या राजनीतिक इच्छाशक्ति और उन योजनाओं को धरातल पर उतारने की नीयत के अभाव की है। लेकिन विरोध प्रदर्शनों के इस दौर में ऐसा लगता है कि राज्य के आदिवासी छात्रों ने भी मान लिया है कि अब पानी सिर से ऊपर निकल चुका है। ■

किसे है सेफ हाउस की जरूरत?

तमिलनाडु कर रहा है 'ऑनर किलिंग' और जाति-आधारित हिंसा की दुनिया का सामना

के.ए. शाजी

मार्च 2016 में सबके सामने वी. शंकर की हत्या कर दी गई थी। उनकी पत्नी कौशल्या इस हमले में बच गईं और उन्होंने गवाही दी। इसके बाद वह तमिलनाडु में जाति-आधारित हिंसा के खिलाफ़ सबसे प्रमुख आवाजों में से एक बन गईं

तिरुपुर जिले के उदुमलपेट में 13 मार्च 2016 को कौशल्या शंकर और उनके पति वी. शंकर पर हमला होता है और 22 वर्षीय दलित इंजीनियरिंग ग्रेजुएट शंकर की हत्या कर दी जाती है। सड़क पर खून से लथपथ तड़पते शंकर के सीसीटीवी फुटेज ने तब पूरे देश को हिला दिया था।

परिवार की मर्जी के खिलाफ शादी करने वाली 19 साल की कौशल्या हमले में बच गईं और जातीय हिंसा के खिलाफ प्रखर आवाज बनीं। शंकर की हत्या के बाद उनकी कानूनी लड़ाई तमिलनाडु में मील का पत्थर बन गई, जहां प्रगतिशील सोच और सामाजिक-राजनीतिक सुधारों के लंबे इतिहास के बावजूद 'ऑनर किलिंग' जैसी कुप्रथा जारी है। उन्होंने राज्य के सभी 38 जिलों में ऑनर किलिंग, जातीय हत्याओं और ऐसी हिंसा से प्रभावित जोड़ों के लिए 'सेफ हाउस' बनाने के सरकार के हालिया फैसले का स्वागत किया है।

कौशल्या ने 'संडे नवजीवन' से कहा, 'जब कोई जोड़ा मां-बाप की मर्जी के खिलाफ शादी करता है, तो उसके पास सिर छिपाने की जगह नहीं होती। काश ऐसा कोई ठिकाना होता, तो मुझे अपने पति को नहीं खोना पड़ता।' उनके ये शब्द संवैधानिक अधिकारों और जाति-धर्म की बंदिशों को तोड़ने का साहस करने वाले युवाओं के सामने खड़ी कड़वी सच्चाई के बीच की खाई को उजागर करते हैं।

तमिलनाडु के सामाजिक न्याय मंत्री वन्नी अरासु ने 28 अगस्त को विधानसभा में इस नीतिगत फैसले की घोषणा करते हुए बताया कि यह कदम हिंसा पीड़ितों और मानवाधिकार कार्यकर्ताओं के ज्ञापनों तथा चर्चित 'शक्ति वाहिनी' मामले में सुप्रीम कोर्ट के ऐतिहासिक फैसले के मुताबिक उठाया गया है। 'शक्ति वाहिनी बनाम भारत संघ (2018)' मामले में शीर्ष अदालत ने कहा था कि दो बालिगों को जीवनसाथी चुनने का मौलिक अधिकार है, जिसमें परिवार, जाति या समुदाय हस्तक्षेप नहीं कर सकते। अदालत ने राज्यों को निर्देश दिया कि वे जिला स्तर पर विशेष सेल और 24 घंटे वाली हेल्पलाइन स्थापित करें, जहां पुलिस तुरंत रोकथाम करे।

अदालत के निर्देशानुसार, अंतरजातीय या अंतरधार्मिक रिश्तों के चलते खतरे का सामना कर रहे जोड़ों को जरूरत पड़ने पर सेफ हाउस में रखा जाना था। प्रशासन का काम उन्हें पूरी सुरक्षा देना और मांगे जाने पर विवाह तथा उसके पंजीकरण में कानूनी सहायता उपलब्ध कराना होता। सेफ हाउस में रहने की शुरुआती व्यवस्था एक महीने थी, जिसे खतरे के आकलन के आधार पर महीने-दर-महीने बढ़ाकर अधिकतम एक वर्ष करने का प्रावधान था।

सरकार सेफ हाउस के साथ अतिरिक्त परामर्श, मुफ्त कानूनी और पुनर्वास सहायता देने की योजना बना रही है, साथ ही ऑनर किलिंग के खिलाफ विशेष कानून बनाने पर भी विचार कर रही है। सुप्रीम कोर्ट के सेवानिवृत्त जज के.एन. बाशा की अध्यक्षता वाली समिति ऐसे अपराधों की रोकथाम के उपायों की समीक्षा कर रही है; समिति की सिफारिशों के आधार पर ही यह कानून लाया जाएगा।

अरासु ने बताया कि दो हफ्तों में इसके लिए बजट आवंटित हो जाएगा और ये जल्द ही ये आश्रय केन्द्र शुरू हो जाएंगे। नवविवाहितों को पारिवारिक तनाव कम होने तक कड़ी सुरक्षा दी जाएगी। सेफ हाउस का यह कदम अहम साबित हो सकता है, क्योंकि किसी भी संभावित हत्या से काफी पहले खतरा शुरू हो जाता है। जोड़े को परिवारों द्वारा धमकाया जाता है, उनका अपहरण किया जाता है, बंधक बनाया जाता है, मारपीट की जाती है या उन्हें जबरन अलग कर दिया जाता है।

पेरियार के जाति-विरोधी आंदोलन से आकार लेने वाला तमिलनाडु, भारत में सामाजिक न्याय की प्रयोगशाला के तौर पर देखा जाता है

*

जातीय हिंसा के मामले में तमिलनाडु का इतिहास चिंताजनक रहा है। वर्ष 2003 में कुड्डालोर में दलित युवक मुरुगेसन और उनकी वन्नियार समुदाय की पत्नी कण्णगी का अपहरण और हत्या राज्य के सबसे चर्चित मामलों में से एक है, जिसने पुलिस की मिलीभगत और जांच की लापरवाहियों को बेनकाब किया। सुप्रीम कोर्ट द्वारा 2025 में सभी 11 दोषियों की सजा बरकरार रखने में 22 लंबे साल लग गए।

वर्ष 2014 के विमलादेवी मामले ने दिखाया कि जो प्रशासनिक तंत्र सुरक्षा के लिए बना था, वही खतरे का सबब बन गया। सवर्ण हिन्दू महिला विमलादेवी ने दलित युवक दिलीपकुमार से प्रेम विवाह किया था। विमलादेवी के समुदाय की भारी भीड़ थाने में जमा हो गई, जहां पुलिस ने उनके शादीशुदा होने पर ध्यान दिए बिना उन्हें जबरन अलग कर दिया। कुछ समय बाद संदिग्ध परिस्थितियों में विमलादेवी की मौत हो गई। मद्रास हाईकोर्ट ने आरोपों का संज्ञान लेते हुए जांच दूसरी एजेंसी को सौंपी और जिला विशेष सेल व 24 घंटे की हेल्पलाइन सहित संस्थागत सुरक्षा के आदेश दिए।

वर्ष 2015 में दलित इंजीनियरिंग छात्र गोकुलराज का तिरुचेंगोड के मंदिर से सिर्फ इसलिए अपहरण कर लिया गया क्योंकि वह कोंगू वेल्लालर समुदाय की एक युवती के साथ थे। अगले दिन उनका क्षत-विक्षत शव रेलवे ट्रैक पर मिला। 2022 में विशेष अदालत ने 10 को दोषी ठहराया, और बाद में मद्रास हाईकोर्ट ने आठ की सजा बरकरार रखी।

शंकर का मामला आज भी इसलिए सबसे अलग है क्योंकि कौशल्या जीवित बच गईं और उन्होंने जातिगत हिंसा के खिलाफ लगातार कानूनी और सामाजिक संघर्ष जारी रखा। ट्रायल कोर्ट ने उनके पिता को फांसी की सजा सुनाई, जिन्हें बाद में मद्रास हाईकोर्ट ने बरी कर दिया। पिता को बरी किए जाने के खिलाफ कौशल्या की अपील अब भी सुप्रीम कोर्ट में विचाराधीन है।

यह समस्या आज भी खत्म नहीं हुई है। जुलाई 2025 में तिरुनेलवेली में 27 वर्षीय दलित सॉफ्टवेयर इंजीनियर कविन सेल्वगणेश की एक कथित ऊंची जाति की युवती से संबंध होने के चलते हत्या कर दी गई। इस मामले की जांच सीबी-सीआईडी को सौंपी गई और मामला फिलहाल लंबित है।

*

आंकड़े एक और गहरी संस्थागत समस्या की ओर इशारा करते हैं: तमिलनाडु के पास ऑनर किलिंग का कोई प्रामाणिक आधिकारिक रिकॉर्ड नहीं है, क्योंकि भारतीय आपराधिक कानून में इसे अलग अपराध के रूप में दर्ज नहीं किया जाता। ऐसे मामलों को केवल सामान्य हत्या, आत्महत्या, अपहरण या अन्य धाराओं में दर्ज किया जाता है। यही कारण है कि सरकारी आंकड़े नागरिक अधिकार संगठनों के जमीनी आंकड़ों से काफी कम दिखते हैं।

मदुरै स्थित मानवाधिकार संस्था 'एविडेंस' के मुताबिक, तमिलनाडु में 2017 से 2025 के बीच ऑनर किलिंग की 53 घटनाओं में 59 लोगों की हत्या हुई। संस्था ने 2023 में 14 मौतें, 2024 में 11 और 2025 में सात मौतें दर्ज कीं। संगठन ने मार्च में सभी 53 घटनाओं से संबंधित एफआईआर और कानूनी दस्तावेज बाशा आयोग को सौंपे थे। 'एविडेंस' के शोध में 2016 से 2020 के बीच 55 संदिग्ध ऑनर किलिंग की पहचान की गई थी। पिछले 25 वर्षों (1999-2024) में केवल छह मामलों में ही दोषियों को सजा मिल पाई हैः शंकर-कौशल्या, कण्णगी-मुरुगेसन, गोकुलराज, अमृतावल्ली, कल्पना और अबिरामी।

संगठन के प्रमुख आरोकियासामी विंसेंट राज का तर्क है कि दोषसिद्धि की बेहद कम दर को जांच के तरीके से अलग करके नहीं देख सकतेः 'ऑनर किलिंग दरअसल सामाजिक षड्यंत्र का नतीजा हैं। आपराधिक न्याय प्रणाली में मौजूद राजनीतिक दबाव और जातिवाद-दोनों ही इसमें बड़ी भूमिका निभाते हैं।' वे बताते हैं कि जातीय हत्याएं केवल दलित बनाम सवर्ण तक सीमित नहीं, बल्कि यह पिछड़ी जातियों और हाशिए के समुदायों में भी बड़े पैमाने पर होती हैं।

'पीपुल्स वॉच' के कार्यकारी निदेशक और वरिष्ठ मानवाधिकार वकील हेनरी तिफाने का कहना है कि सामाजिक न्याय की समृद्ध विरासत के बावजूद तमिलनाडु में जातीय हिंसा एक गंभीर मानवाधिकार संकट बनी हुई है। 2024 में तिफाने और राज ने राजनीतिक दलों की तीखी आलोचना की थी कि वे विशेष रूप से दक्षिणी जिलों में ऑनर किलिंग और जातीय टकराव के बढ़ते मामलों पर पूरी तरह पेरियार के जाति-विरोधी आंदोलन, आरक्षण व्यवस्था, तर्कवाद और सामाजिक पदानुक्रम को चुनौती देने की लंबी राजनीतिक परंपरा के कारण तमिलनाडु को अक्सर भारत में 'सामाजिक न्याय की प्रयोगशाला' के रूप में पेश किया जाता है। राज्य में अंतरजातीय विवाहों की दर भी अपेक्षाकृत अधिक रही है और सामाजिक न्याय से जुड़े कई मजबूत संस्थान खड़े किए गए।

इसके बावजूद, जाति आज भी जमीन के मालिकाना हक, शादियों, स्थानीय राजनीति और पारिवारिक ढांचे में गहराई से पैठी है। जैसे-जैसे दलित युवा शिक्षा, रोजगार और सामाजिक गतिशीलता हासिल कर रहे हैं, जातीय सीमाएं और विवादित होती जा रही हैं-खास तौर पर विशेष रूप से तब जब प्रभुत्वशाली या मध्यवर्ती जातियों की महिलाएं दलित जीवनसाथी चुनती हैं। विंसेंट का कहना है कि महिला के शरीर को आज भी जातीय शुद्धता बनाए रखने के माध्यम के रूप में देखा जाता है।

सेफ हाउस इन सदियों पुरानी सामाजिक विकृतियों और पूर्वाग्रहों को रातों-रात खत्म नहीं कर सकते। लेकिन वे अपनी पसंद से जीने का फैसला करने वाले जोड़ों को बेघर और असहाय होने से बचा सकते हैं। वे पीड़ितों को संभलने, कानूनी लड़ाई लड़ने और अपनी जिंदगी को दोबारा संवारने के लिए जरूरी सुरक्षा और समय जरूर दे सकते हैं। ■

सिंधु जल संधि पर आक्रामक रुख एक और कूटनीतिक भूल

अंतरराष्ट्रीय अदालत के फैसले को भारत द्वारा न मानने से चीन को एक खतरनाक नज़ीर मिल गई है

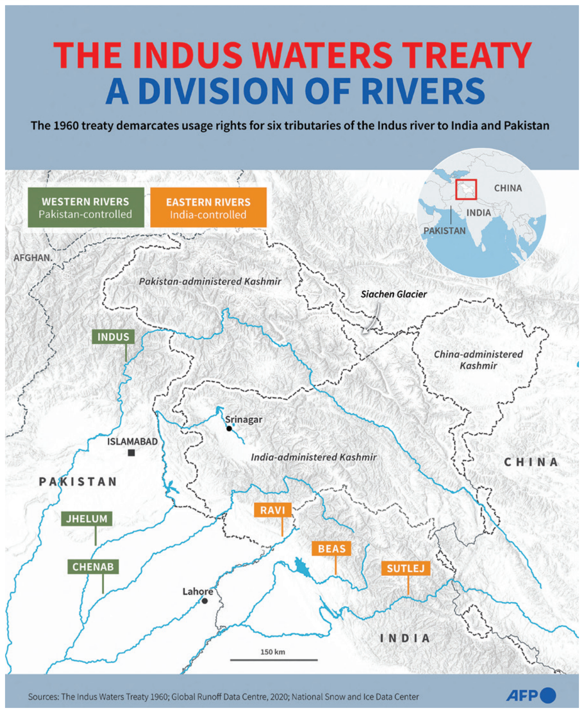
THE INDUS WATERS TREATY
A DIVISION OF RIVERS
The 1960 treaty demarcates usage rights for six tributaries of the Indus river to India and Pakistan
WESTERN RIVERS Pakistan-controlled
EASTERN RIVERS India-controlled
CHINA
INDIA
PAKISTAN
AFGHAN.
Pakistan-administered Kashmir
Siachen Glacier
China-administered Kashmir
INDUS
Srinagar
ISLAMABAD
India-administered Kashmir
CHINA
PAKISTAN
JHELUM
RAVI
CHENAB
BEAS
SUTLEJ
Lahore
INDIA
150 km
AFP

Sources: The Indus Waters Treaty 1960; Global Runoff Data Centre, 2020; National Snow and Ice Data Center

इंफोग्राफिक: गेटी इमेजेज

सिंधु जल संधि के निलंबन के बाद भारत ने बगलिहार बांध से पाकिस्तान जाने वाले पानी के बहाव को कम किया। इन्फोग्राफिक में सिंधु जल संधि में शामिल नदियां

अशोक स्वैन

पिछले साल अप्रैल 2025 में जम्मू-कश्मीर के पहलगाम में आतंकवादी हमले के बाद भारत ने जब सिंधु जल संधि पर रोक लगाई, तो नरेन्द्र मोदी सरकार ने इस फैसले को रणनीतिक दृढ़ता के तौर पर पेश किया। संदेश यह था कि पाकिस्तान सीमा-पार आतंकवाद का समर्थन करते हुए साझा नदियों पर सहयोग का फायदा नहीं उठा सकता। यह नारा राजनीतिक रूप से आकर्षक हो सकता है, लेकिन इसके पीछे की नीति कानूनी तौर पर संदिग्ध, व्यावहारिक रूप से बेअसर और रणनीतिक रूप से अदूरदर्शी थी। हेग में आर्बिट्रेशन कोर्ट के हालिया फैसले और उसे मानने से भारत के साफ इनकार ने इस आत्मघाती फैसले को गंभीर कूटनीतिक भूल में बदल दिया है।

कोर्ट ने फैसला सुनाया है कि 1960 की सिंधु जल संधि पूरी तरह से लागू है और भारत अपनी जिम्मेदारियों पर एकतरफा तौर पर रोक नहीं लगा सकता। कोर्ट ने कश्मीर में रतले हाइड्रोइलेक्ट्रिक प्लांट के निर्माण कार्य पर भी अंतरिम रोक लगाने का आदेश दिया है। विश्व बैंक द्वारा नियुक्त निष्पक्ष विशेषज्ञ का फैसला भी जुलाई 2027 तक आने की उम्मीद है और इसके 90 दिनों तक भारत को बांध की दीवार या पावर इनटेक स्ट्रक्चर को तय सीमा से ज्यादा ऊंचा न करने को कहा गया। भारत के विदेश मंत्रालय ने इस पर प्रतिक्रिया में कहा है कि ट्रिब्यूनल का गठन गैर-कानूनी तरीके से किया गया है। भारत ने जोर देकर कहा है कि इसके फैसलों का भारत के प्रोजेक्ट्स पर कोई असर नहीं पड़ेगा।

भारत लंबे समय से इस संधि के तहत 'कोर्ट ऑफ आर्बिट्रेशन' और 'न्यूट्रल एक्सपर्ट प्रोसेस' को एक साथ शुरू करने का विरोध करता रहा है। उसे यह कानूनी तर्क देने का अधिकार है। लेकिन इसमें शामिल होने से इनकार करने पर कार्यवाही खत्म नहीं हो जाती, और न ही किसी प्रतिकूल फैसले को संप्रभुता पर हमला बताने से भारत की संधि संबंधी जिम्मेदारियां खत्म हो जाती हैं। संप्रभुता में बाध्यकारी समझौतों को करने की क्षमता शामिल होती है। यह किसी देश को ऐसी आज़ादी नहीं देती कि जब भी उनका पालन करना राजनीतिक रूप से असुविधाजनक हो, तो वह उनकी अनदेखी कर दे।

सिंधु जल संधि में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जो किसी भी पक्ष को इसे एकतरफा तौर पर रोकने या टालने की इजाजत दे। असल में, इसकी मजबूती का कारण यह था कि पानी के मामले में सहयोग को भारत-पाकिस्तान के रिश्तों में आने वाले उतार-चढ़ाव से अलग रखा गया। यह संधि 1965 और 1971 की लड़ाइयों, कारगिल संघर्ष और बार-बार हुए सैन्य संकटों के बावजूद कायम रही। अगर युद्ध भी इस संधि को खत्म नहीं कर सका, तो इसके कामकाज को पाकिस्तान द्वारा आतंकवाद को पूरी तरह खत्म करने की ऐसी शर्त से जोड़ना, जिसकी कोई समय-सीमा तय नहीं है, असल में पानी के इस समझौते को राजनीतिक मनमर्जी का एक अनिश्चित साधन बना देता है।

आतंकवाद, भारत के लिए उसकी सुरक्षा से जुड़ी एक गंभीर और जायज़ चिंता है। सीमा पार हिंसा फैलाने वाले समूहों को किसी भी तरह की मदद देने के लिए पाकिस्तान को जिम्मेदार ठहराया जाना चाहिए। लेकिन सजा कानूनी, उचित और रणनीतिक रूप से फायदेमंद होनी चाहिए। पाकिस्तान की खेती को सहारा देने वाली संधि को रद्द करने का फैसला इन पैमानों पर खरा नहीं उतरता। इससे ध्यान आतंकवाद से हटकर भारत के रवैये पर चला जाता है, पाकिस्तान को खुद को अंतरराष्ट्रीय कानून का रक्षक बताने का मौका मिलता है, और लाखों आम लोगों के लिए भोजन और आजीविका के लिए जरूरी संसाधन को लेकर अनिश्चितता पैदा हो जाती है।

इस संधि को स्थगित करने से भारत को मिलने वाले भौतिक लाभों को भी बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया है। पश्चिमी नदियों को रोकने या उनका मार्ग बदलने के लिए भारत के पास आवश्यक भंडारण और जल-मोड़न की बुनियादी संरचना नहीं है। पहाड़ी भूभाग के कारण इन नदियों के पानी को कहीं और ले जाना अत्यंत कठिन है, जबकि भारतीय कश्मीर के अधिकांश हिस्से में पहले से ही सिंचाई के लिए पर्याप्त पानी उपलब्ध है। भारत आंकड़े साझा करने में खेल कर सकता है, जलाशयों के संचालन में बदलाव कर सकता है और कृषि संबंधी संवेदनशील समयों के दौरान चिंता पैदा कर सकता है। लेकिन, वर्षों के निर्माण, भारी खर्च और गंभीर पर्यावरणीय एवं सुरक्षा जोखिमों के बिना सिंधु नदी प्रणाली को बंद करना संभव नहीं है।

ऐसी नीति जो बिना किसी काम के दबाव बनाए भारी कानूनी और कूटनीतिक कीमत चुकाने पर मजबूर करे, वह सिर्फ राजनीतिक दिखावा है, न कि रणनीतिक सख्ती। 'ऑपरेशन सिंदूर' के अपने घोषित सैन्य मकसद पूरे न कर पाने के बाद, संधि को ठंडे बस्ते में डालने से नरेन्द्र मोदी को अपनी दृढ़ता दिखाने में मदद मिलती है। फिर भी, सिर्फ दिखावे के लिए की गई जवाबी कार्रवाई एक ठोस क्षेत्रीय रणनीति की जगह नहीं ले सकती। पानी को हथियार बनाने से सजा की घरेलू मांग तो पूरी हो सकती है, लेकिन इससे पाकिस्तान को ठीक वही अंतरराष्ट्रीय मंच मिल जाता है जिससे भारत ने उसे हमेशा दूर रखने की कोशिश की है।

पाकिस्तान ने विश्व बैंक से संपर्क किया है और यह मामला संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के सामने रखा है। इस समझौते में कुछ खास प्रक्रिया संबंधी जिम्मेदारियों के लिए विश्व बैंक के हस्ताक्षर हैं, और इसके विवाद सुलझाने का तरीका इसी संस्था द्वारा की गई नियुक्तियों पर निर्भर करता है। इसलिए, भारत का टकराव अब सिर्फ पाकिस्तान तक सीमित नहीं है। मध्यस्थता की प्रक्रिया को पूरी तरह से खारिज करके, भारत उस अंतरराष्ट्रीय ढांचे को चुनौती दे रहा है जिसे उसने दशकों तक स्वीकार किया और इस्तेमाल किया। इससे एक जिम्मेदार ताकत के तौर पर भारत का दावा कमजोर होता है, जो बहुपक्षवाद और नियमों पर आधारित अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था के लिए प्रतिबद्ध है।

वैसे भी जिस समय यह फैसला आया है, वह बहुत नुकसानदेह है। पाकिस्तान के अमेरिका के साथ रिश्ते बेहतर हुए हैं, जबकि चीन के साथ उसकी रणनीतिक साझेदारी बहुत मजबूत बनी हुई है। 'ऑपरेशन सिंदूर' के दौरान, चीन ने पाकिस्तान को सैन्य उपकरण और ऑपरेशनल और इंटेलिजेंस सपोर्ट दिया। अब पाकिस्तान, अमेरिकां में अपनी कूटनीतिक पहुंच और चीन से मिलने वाले रणनीतिक समर्थन के साथ अपनी कमजोरियों को भी मिला सकता है। पाकिस्तान को अलग-थलग करने के बजाय, भारत की सिंधु नीति ने एक ऐसा मुद्दा खड़ा कर दिया है जिस पर पाकिस्तान बड़े पैमाने पर अंतरराष्ट्रीय सहानुभूति हासिल कर सकता है।

उधर, चीन यारलुंग त्सांगपो नदी के ऊपरी हिस्से पर नियंत्रण रखता है, जो भारत में ब्रह्मपुत्र नदी बन जाती है। भारतीय सीमा के पास 'ग्रेट बेंड' के नजदीक चीन का विशाल पनबिजली प्रोजेक्ट, चीन को भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्र के लिए बेहद अहम इस नदी के बहाव को नियंत्रित करने की ज्यादा क्षमता देगा। हो सकता है कि चीन ब्रह्मपुत्र के बहाव को पूरी तरह रोक न पाए, क्योंकि नदी के पानी का एक बड़ा हिस्सा तिब्बत के आगे के इलाकों से आता है। फिर भी, जलाशय के संचालन, पानी से जुड़े डेटा को न देने और अचानक पानी छोड़े जाने से गंभीर जोखिम पैदा हो सकते हैं। भारत चीन से पारदर्शिता और संयम बरतने की मजबूती से मांग नहीं कर सकता, जबकि वह खुद अपने निचले बहाव वाले पड़ोसी देश के प्रति अपनी बाध्यकारी जिम्मेदारियों की अनदेखी करने का अधिकार जताता हो।

इसके असर बांग्लादेश तक भी पहुंचते हैं। गंगा जल संधि दिसंबर 2026 में खत्म हो रही है। भारत और बांग्लादेश के बीच रिश्ते खराब हुए हैं और चीन एवं पाकिस्तान के साथ बांग्लादेश का जुड़ाव बढ़ा है। अगली संधि को लेकर बातचीत में पहले से ही कई रुकावटें हैं, जैसे सूखे के मौसम में पानी की कमी, फरक्का बैराज और पश्चिम बंगाल की राजनीतिक आपत्तियां आदि। सिंधु नदी को लेकर भारत का रवैया निश्चित रूप से बांग्लादेश की उम्मीदों पर असर डालेगा। अगर भारत सुरक्षा संकट के बाद किसी एक नदी संधि को रोक सकता है, तो बांग्लादेश को यह भरोसा क्यों होना चाहिए कि कोई दूसरी संधि राजनीतिक दबाव से बची रहेगी?

अच्छी साख कोई ऐसी चीज नहीं है जो सिर्फ दिखावे के लिए हो या जिसे नजरअंदाज किया जा सके। इसी से तय होता है कि पड़ोसी देश भारत के भरोसेमंद होने पर यकीन करते हैं या नहीं, अंतरराष्ट्रीय संस्थाएं भारत के कानूनी दावों को मानती हैं या नहीं, और छोटे देश भारत की लीडरशिप को सहयोग करने वाली मानते हैं या दबाव डालने वाली। भारत एक ही समय में यह नहीं कह सकता कि जब चीन उसकी सीमाओं का उल्लंघन करे तो संप्रभुता का सम्मान किया जाए, जब संधि की शर्तें भारत के हितों की रक्षा करें तो उनका पालन किया जाए, और जब किसी मध्यस्थता के फैसले से कोई पाबंदी लगे तो उसे खारिज कर दिया जाए। चुनिंदा बहुपक्षवाद से विश्वसनीयता कम होती है, खासकर ऐसे समय में जब भारत दुनिया में ज्यादा प्रभाव और सुरक्षा परिषद में स्थायी जगह पाना चाहता है।

सिंधु जल संधि को अपडेट करने की जरूरत है। 1960 में जलवायु परिवर्तन, ग्लेशियरों की कमजोरी, नदियों के बदलते बहाव और ऊर्जा की नई जरूरतों का ठीक से अंदाजा नहीं लगाया गया था। पश्चिमी नदियों से मिलने वाले अपने तय हिस्से को लेकर भारत की चिंताएं भी जायज हैं। लेकिन बदलाव बातचीत और संधि की प्रक्रियाओं के जरिये ही होना चाहिए, न कि एकतरफा तौर पर इसे रोककर। भारत को अंतरिम उपायों का पालन करना चाहिए, स्थायी सिंधु आयोग के साथ फिर से जुड़ना चाहिए और तकनीकी एवं जलवायु से जुड़े पहलुओं पर व्यवस्थित बातचीत करनी चाहिए। संधि पर वापस लौटना आतंकवाद के लिए किसी 'इनाम' जैसा नहीं होगा, बल्कि यह एक ऐसे देश का आत्मविश्वास दिखाएगा जो उन नियमों को छोड़े बिना अपनी सुरक्षा की रक्षा कर सकता है, जिनके पालन की उम्मीद वह दूसरों से करता है।

भारत के मूल फैसले से कोई खास फायदा नहीं हुआ, बल्कि इससे विवाद अंतरराष्ट्रीय स्तर पर फैल गया और पाकिस्तान का कूटनीतिक पक्ष मजबूत हो गया। अब कोर्ट के फैसले को न मानने से वह गलती और बढ़ गई है। नदियां देशों को जोड़ती हैं, भले ही राजनीति उन्हें अलग-अलग कर दे। सिंधु नदी को हथियार की तरह इस्तेमाल करके मोदी सरकार ने भारत की कानूनी स्थिति कमजोर कर दी है, नदी के बहाव की दिशा में पड़ने वाले पड़ोसी देशों को डरा दिया है और चीन को एक ऐसी मिसाल दे दी है जिसका इस्तेमाल भविष्य में हमारे ही खिलाफ किया जा सकता है। ■

> भारत अपनी सुविधा के अनुसार संधि की शर्तों का बचाव नहीं कर सकता और जब मध्यस्थता का फैसला पाबंदियां लगाता है, तो उसे खारिज नहीं कर सकता

अशोक स्वेन स्वीडन की उप्पसला यूनिवर्सिटी में पीस एंड कॉन्फ्लिक्ट रिसर्च के प्रोफेसर हैं

नीतियों में यू-टर्न को कब माना जाए जायज़?

अजीत रानाडे

भारतीय रिजर्व बैंक (आरबीआई) ने हाल ही में आर्थिक नीति-निर्माण को लेकर आंखें खोलने वाला सबक दिया है। 5 अगस्त को जब आरबीआई गवर्नर संजय मल्होत्रा से पूछा गया कि क्या अनिवासी भारतीयों (एनआरआई) से विदेशी मुद्रा जमा आकर्षित करने के लिए बनाई गई विशेष एफसीएनआर (बी) योजना को इसकी तय समय-सीमा 30 सितंबर से पहले बंद किया जा सकता है, तो उन्होंने साफ कहा कि ऐसा कोई प्रस्ताव नहीं है। लेकिन महज नौ दिन बाद, आरबीआई ने इसकी अंतिम तारीख 31 अगस्त कर दी।

इस अचानक बदलाव के पीछे वैध आर्थिक कारण हो सकते हैं। यह योजना उम्मीद से कहीं अधिक सफल रही थी। डॉलर का प्रवाह मजबूत था, जबकि रुपये के अवमूल्यन के खिलाफ तय सुरक्षा देने की सब्सिडी लागत बढ़ रही थी। इसके अलावा नकदी प्रबंधन और भविष्य की विदेशी मुद्रा देनदारियों का बढ़ता सिरदर्द भी सामने था। सवाल यह नहीं है कि आरबीआई को रुख बदलने का अधिकार है या नहीं, बल्कि यह है कि जब समय से पहले स्कीम को बंद करने की संभावना पर पहले से चर्चा चल रही थी, तो इसके ठीक उलट स्पष्ट आश्वासन क्यों दिया?

आर्थिक नीतियां यू-टर्न से भरी पड़ी हैं। इनमें से कुछ बदलाव नीतिगत लचीलेपन और सीखने की क्षमता को दिखाते हैं, जबकि अन्य खराब तैयारी, राजनीतिक दबाव या नीतिगत अनिश्चितता को। आखिर, दोनों का अंतर कैसे समझें?

डॉनल्ड ट्रंप की टैरिफ नीति इसका ज्वलंत उदाहरण है। अप्रैल 2025 के 'लिबरेशन डे' टैरिफ घोषणाओं के बाद शुल्क लगाए गए, स्थगित किए गए, संशोधित किए गए, घटाए गए, दोबारा धमकियां दी गईं और फिर से थोप दिए गए। सप्लाई चेन से जुड़ी कंपनियों को आज के टैरिफ के साथ-साथ छह महीने बाद के टैरिफ नियमों की अनिश्चितता से भी जूझना पड़ता है।

भारत के पास भी नीतियों से पीछे हटने के अपने उदाहरण हैं। उदाहरण के लिए, तीन कृषि कानून- जिन्हें बेहद मजबूती के साथ लागू किया गया, लेकिन किसानों के कड़े विरोध के बाद वापस ले लिया गया। एथेनॉल मिश्रण कार्यक्रम-जिसे ई-20 को डिफॉल्ट बनाने की जल्दबाजी में आगे बढ़ाया गया और फिर वाहनों पर इसके प्रतिकूल प्रभावों के बढ़ते साक्ष्यों तथा अन्य चिंताओं के सामने आने पर कदम पीछे खींचने पड़े।

या फिर पेंशन सुधारों को ही ले लीजिए। नई पेंशन योजना ने सरकारी पेंशन को बिना फंड वाले तय-लाभ के वादे से हटाकर फंड-आधारित और अंशदान-आधारित प्रणाली में बदल दिया। इसके बाद पुरानी पेंशन योजना (ओपीएस) की बहाली के लिए बने राजनीतिक दबाव ने एकीकृत पेंशन योजना (यूपीएस) को जन्म दिया, जिसने अंशदान को बनाए रखते हुए निश्चित पेंशन का प्रावधान फिर बहाल किया। इसके बावजूद मार्च 2026 तक, पात्र 24.14 लाख केंद्रीय कर्मचारियों में से केवल 1.24 लाख कर्मचारियों ने यूपीएस का विकल्प चुना था।

ये सभी नीतिगत बदलाव एक जैसे नहीं: कभी राजनीति बदलती है, कभी जमीनी साक्ष्य बदलते हैं, तो कभी मूल नीति पर पहले से समग्रता से विचार ही नहीं किया गया होता है। कभी-कभी तो नीतिगत सवाल ही गलत तरीके से तय किया जाता है।

इसपर विचार कीजिए: 'क्या औद्योगिक नीति काम करती है?' इसका सार्वभौमिक 'हां' या 'ना' में उत्तर नहीं हो सकता। किस उद्योग के लिए? किस नीतिगत साधन के साथ? कितने समय के लिए? किस प्रशासनिक व्यवस्था के तहत? क्या सहायता प्रदर्शन पर आधारित है? क्या वहां स्वस्थ प्रतिस्पर्धा है या पहले से जमे खिलाड़ियों को संरक्षण दिया जा रहा है? क्या भारत की उत्पादन-संबद्ध प्रोत्साहन (पीएलआई) योजना हर लिहाज से अच्छी नीति है?

अर्थशास्त्र नीतिगत सवालों के एकदम अचूक उत्तर नहीं दे सकता क्योंकि आर्थिक व्यवहार तय मापदंडों से संचालित नहीं होता। एक नीति व्यवहार को बदलती है और बदला हुआ व्यवहार उस परिवेश को बदल देता है जिसमें वह नीति काम करती है। कृषि सुधार प्रोत्साहन बदलते हैं, लेकिन साथ ही राजनीतिक लामबंदी को भी जन्म देते हैं। उत्पादन सब्सिडी किसी उद्योग को खड़ा कर सकती है, लेकिन वही उद्योग बाद में एक ऐसा हित समूह बन जाता है जो सब्सिडी जारी रखने की लॉबिंग करने लगता है। राजनीतिक अर्थव्यवस्था कोई बाहरी व्यवधान नहीं; यह पूरी व्यवस्था का ही हिस्सा है। यहां तक कि दुनिया के सबसे प्रतिष्ठित अंतरराष्ट्रीय संस्थानों को भी यह सबक सीखना पड़ा है।

1997-98 के एशियाई वित्तीय संकट के दौरान, थाईलैंड, इंडोनेशिया और कोरिया में आईएमएफ समर्थित कार्यक्रमों ने शुरू में व्यापक संरचनात्मक सुधारों के साथ सख्त मैक्रोइकॉनॉमिक नीतियों पर जोर दिया। मलेशिया आईएमएफ के कार्यक्रम में शामिल नहीं हुआ। उसने पूंजी नियंत्रण लागू किया, अपनी मुद्रा रिंगित को डॉलर के साथ स्थिर किया और इसके बाद एक मजबूत आर्थिक सुधार दर्ज किया। क्या आईएमएफ की नीति गलत थी? मलेशिया उस दौर में पूंजी नियंत्रण के प्रति आईएमएफ के पारंपरिक कड़े रुख के बरक्स बड़ा जवाबी उदाहरण बनकर उभरा।

2011 के यूरोजोन संप्रभु ऋण संकट ने एक और असहज स्थिति पैदा की। ग्रीस के कर्ज को पूरी तरह असहनीय माना गया। लेकिन आईएमएफ ने अपने असाधारण-पहुंच वाले नियमों को ही बदल दिया। उसने ग्रीस पर तुरंत कर्ज पुनर्गठन का दबाव नहीं बनाया, बल्कि उसे उदार वित्तीय सहायता दी। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि यूरोपीय संस्थान और सरकारें ग्रीस के कर्ज पुनर्गठन के खिलाफ थीं। 1997 में एशियाई देशों के प्रति सख्ती के मुकाबले यह दोहरा रवैया साफ दिखा और आईएमएफ पर पक्षपात के आरोप लगे। या फिर यह राजकोषीय सख्ती को लेकर आई नई समझ के चलते लिया गया नीतिगत यू-टर्न था?

विश्व बैंक इसका और भी बड़ा उदाहरण रखता है। 1993 की उसकी प्रभावशाली 'ईस्ट एशियन मिरेकल' रिपोर्ट का निचोड़ था कि विशिष्ट उद्योगों को बढ़ावा देना अमूमन काम नहीं करता। उस समय इसने वाशिंगटन सहमति को मजबूत करने में मदद की, जिसमें कहा गया था कि सरकार-नेतृत्व वाले औद्योगिक नियोजन के बजाय बाजार-अनुकूल नीतियां सही रास्ता हैं। तीन दशक बाद, इसकी 2026 की रिपोर्ट कहती है कि औद्योगिक नीति की वापसी हो चुकी है और यह सरकारों को इसके उपयोग के लिए साक्ष्य-आधारित टूलकिट प्रदान करती है। यह भारत की पीएलआई योजना के लिए अच्छी खबर है, लेकिन क्या यह यू-टर्न नहीं?

वर्षों तक विश्व बैंक अपनी 'ईज ऑफ डूइंग बिजनेस' रैंकिंग प्रकाशित करता रहा, जिसने किसी देश की व्यापार-अनुकूल छवि को तय करने में बड़ी भूमिका हासिल कर ली। विडंबना यह थी कि 'डूइंग बिजनेस 2010' में 183 देशों में भारत 133वें, ब्राजील 129वें और रूस 120वें स्थान पर था; जबकि चीन 89वें पायदान पर था। स्पष्ट रूप से विश्व बैंक के संकेतक यह समझाने में पूरी तरह नाकाम रहे कि इतनी खराब रैंकिंग वाले ये ब्रिक्स देश इतनी तेजी से विकास कैसे कर रहे थे। इसके बाद, एक विवाद के चलते विश्व बैंक ने 2021 में डूइंग बिजनेस रैंकिंग को बंद कर दिया और इसकी जगह एक नया पैमाना लाया गया।

इन सब बातों का कतई यह मतलब नहीं कि अर्थशास्त्री या नीति-निर्माता अपनी राय नहीं बदल सकते या उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए। विपरीत साक्ष्यों के सामने आने पर भी अपनी पुरानी बात पर अड़े रहना निरंतरता नहीं, हठधर्मिता और दुराग्रह है। समस्या तब पैदा होती है जब राजनीतिक मजबूरी में बदले गए फैसलों को आर्थिक अनिवार्यता बताकर पेश किया जाता है।

आरबीआई स्पष्ट कह सकता था कि एफसीएनआर (बी) की खिड़की 30 सितंबर तक या विदेशी मुद्रा प्रवाह के एक निश्चित स्तर को पार करने तक अथवा वित्तीय स्थिरता की चिंताएं पैदा होने तक ही खुली रहेगी। इस घटनाक्रम की एक तीखी समीक्षा में ठीक यही बात कही गई है: पहले से तय ट्रिगर नियमों की मदद से नीतियों की स्थिरता और भरोसे को खोए बिना जरूरी लचीलापन बरकरार रखा जा सकता था।

बेहतर नीति-निर्माण के लिए विनम्रता, पारदर्शिता और जवाबदेही के साथ-साथ निर्णायकता की भी जरूरत होती है। विनम्रता का अर्थ यह स्वीकार करना है कि अनुमान और मॉडल गलत हो सकते हैं। पारदर्शिता का अर्थ यह समझाना है कि फैसले में क्या बदलाव आया। जवाबदेही का अर्थ यह स्वीकार करना है कि नीति पलटने के क्या परिणाम होंगे। और निर्णायकता का अर्थ यह है कि अनिश्चितता कभी नीतिगत शिथिलता का बहाना नहीं बननी चाहिए।

यू-टर्न हमेशा कमजोरी की निशानी नहीं होते। कभी-कभी वे यह दर्शाते हैं कि नीतियां तेजी से सीख रही हैं और समयानुकूल हैं। लेकिन साक्ष्य बदलने के कारण दिशा बदलने और राजनीतिक हवा बदलने के कारण दिशा बदलने में बहुत बड़ा फर्क होता है। संस्थाएं कभी गलत न होने का दिखावा करके साख नहीं बचातीं, बल्कि यह समझाकर विश्वसनीयता कायम रखती हैं कि उन्होंने अपनी राय क्यों बदली, जमीन पर क्या बदला है और नए रास्ते पर अधिक भरोसा क्यों किया जाना चाहिए। ■

फोटो: गेटी इमेजेज

आरबीआई गवर्नर संजय मल्होत्रा एफसीएनआर(बी) पर अपने बयान से नौ दिनों में ही पलट गए

> अच्छी नीति बनाने के लिए विनम्रता, पारदर्शिता, जवाबदेही और साथ ही निर्णायक क्षमता की आवश्यकता होती है। संस्थाएं कभी गलत न होने का दिखावा करके साख नहीं बचातीं

अजीत रानाडे जाने-माने अर्थशास्त्री हैं। साभार: द बिलियन प्रेस

सांस्कृतिक यात्रा के पीछे का वैश्विक नेटवर्क

भारत में संघ की आलोचना के बीच पैदा हुए अंतरराष्ट्रीय प्रश्न का उत्तर भी लगती है भागवत की भाषा

शैलेंद्र चौहान

मोहन भागवत का अमेरिका दौरा समाप्त होते-होते स्पष्ट हो गया है कि इसे केवल किसी धार्मिक-सांस्कृतिक संगठन के प्रमुख की प्रवासी भारतीयों से मुलाकात मानना पर्याप्त नहीं होगा। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के शताब्दी वर्ष में अमेरिका, कनाडा और ब्रिटेन की यात्रा ऐसे समय हुई है जब संघ भारत के भीतर अपने सामाजिक विस्तार के साथ विदेशों में अपनी वैचारिक उपस्थिति को भी अधिक व्यवस्थित रूप देने की कोशिश कर रहा है। स्वयं संघ ने इस यात्रा को तीन उद्देश्यों से जोड़ा है—भारत, हिन्दू समाज और संघ के बारे में अपनी 'सकारात्मक' दृष्टि दुनिया के सामने रखना, 'वसुधैव कुटुंबकम' का संदेश पहुंचाना और विदेशों में हिन्दू तथा भारतीय मूल के लोगों के हितों और अधिकारों के संबंध में मुख्यधारा के समाज से संवाद बढ़ाना।

न्यूयॉर्क का मैडिसन स्क्वायर गार्डन अमेरिकी लोकप्रिय संस्कृति, सार्वजनिक राजनीति और बड़े पैमाने की जन-उपस्थिति का प्रतीक है। वहां 29 अगस्त को आयोजित 'Universal Oneness Celebration' में पांच हजार से अधिक लोगों के पहुंचने की उम्मीद थी और आयोजकों के अनुसार 250 से अधिक हिन्दू-अमेरिकी संगठन उससे जुड़े थे। यही वह बिंदु है जहां इस यात्रा का सांस्कृतिक आवरण और उसका राजनीतिक अर्थ एक-दूसरे से जुड़ते हैं।

भागवत ने न्यूयॉर्क में जिस भाषा का इस्तेमाल किया, वह विशेष ध्यान देने योग्य है। उन्होंने भारत की पहचान को 'विविधता में एकता' से जोड़ा और कहा कि यदि कोई व्यक्ति यह चाहता है कि भारत में मुसलमान न रहें तो वह हिन्दू नहीं है।

यह भाषा भारत में संघ की आलोचना के बीच पैदा हुए अंतरराष्ट्रीय प्रश्न का एक उत्तर भी दिखाई देती है। जब भागवत अमेरिकी मंच पर हिन्दू-मुस्लिम सह-अस्तित्व, बहुलता और मानवता की बात करते हैं तो वह केवल भारतीय-अमेरिकी श्रोताओं से संवाद नहीं कर रहे होते; अमेरिकी सार्वजनिक विमर्श में आरएसएस की नई छवि प्रस्तुत कर रहे होते हैं। इसे संघ की 'वैश्विक रीब्रांडिंग' कहा जा सकता है। लेकिन कहानी यहीं खत्म नहीं होती।

अमेरिका में भारतीय मूल का समुदाय केवल प्रवासी समुदाय नहीं रह गया है। वह विभिन्न क्षेत्रों में प्रभावशाली उपस्थिति रखता है। इसका एक हिस्सा भारतीय राजनीति में गहरी रुचि रखता है और भारत-अमेरिका संबंधों को लेकर सक्रिय है।

No Standing
HINDUTVA
OUT OF NYC
INDIA BANNED R
THREE TIME
NEW YORK HANDS TH
MADISON SQUARE GAR

फोटो: गेटी इमेजेज़

संघ प्रमुख मोहन भागवत के मैडिसन स्क्वॉयर गार्डन में भाषण के दौरान विरोध प्रदर्शन करते विभिन्न संगठनों के लोग

आरएसएस राजनीतिक दल नहीं है। लेकिन भाजपा के साथ उसका वैचारिक और संगठनात्मक संबंध स्थापित तथ्य है। अमेरिकी मीडिया और अमेरिकी नीति-संस्थाएं भी उसे अक्सर भाजपा के वैचारिक स्रोत या ideological parent के रूप में वर्णित करती हैं। इसलिए विदेशों में आरएसएस की स्वीकार्यता का प्रभाव केवल उसी तक सीमित नहीं रहता।

फिर सामने आया अमेरिकी लॉबिंग का प्रश्न। इस यात्रा को समझने में सबसे महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि 2025 में सामने आया अमेरिकी लॉबिंग विवाद है। अमेरिकी कांग्रेस के लॉबिंग खुलासों की रिपोर्टिंग के अनुसार, वॉशिंगटन की लॉ फर्म Squire Patton Boggs को 2025 में लगभग 3,30,000 डॉलर का भुगतान ऐसी व्यवस्था के तहत किया गया था जिसका उद्देश्य आरएसएस को अमेरिकी अधिकारियों से परिचित कराना था। उस समय रिपोर्टों में यह व्यवस्था आरएसएस से जुड़ी बताई गई थी। आरएसएस ने इसका खंडन किया और कहा कि उसने अमेरिका में किसी लॉबिंग फर्म को नियुक्त नहीं किया है। बाद में Squire Patton Boggs ने अपने disclosures में बदलाव करते हुए कहा कि संबंधित काम के लिए उसका client आरएसएस नहीं, बल्कि विवेक शर्मा था और उसने आरएसएस से संबंधित काम बंद कर दिया।

यहां अभी भी प्रश्न हैं। किसने भुगतान किया? किसके निर्देश पर? किस उद्देश्य से? किन अधिकारियों से संपर्क किया गया? क्या यह केवल संगठन का परिचय कराने का प्रयास था या भारत-अमेरिका संबंधों के व्यापक मुद्दों पर प्रभाव बनाने का?

सबसे बड़ा विरोधाभास यही है कि संघ पहली बार अपने को वैश्विक सांस्कृतिक संगठन के रूप में प्रस्तुत करना चाहता है, लेकिन दुनिया उसे भारत की राजनीतिक बहसों से अलग करके देखने को तैयार नहीं है

वॉशिंगटन में लॉबिंग और न्यूयॉर्क में मैडिसन स्क्वायर गार्डन—दोनों को पूरी तरह असंबद्ध मानना भी संभवतः बहुत सरल निष्कर्ष होगा। एक तरफ नीति-निर्माताओं और सार्वजनिक अधिकारियों तक पहुंच बनाने का प्रयास है। दूसरी तरफ व्यापक भारतीय-अमेरिकी समुदाय के सामने बड़े सार्वजनिक मंच पर संगठन की छवि प्रस्तुत करने का प्रयास। एक ओर सत्ता के गलियारों में प्रवेश की कोशिश दिखाई देती है; दूसरी ओर समाज में वैधता हासिल करने की कोशिश। इसे किसी गुप्त षड्यंत्र के रूप में देखने की आवश्यकता नहीं है। आधुनिक राजनीतिक संचार में यह सामान्य रणनीति है—policy access और public legitimacy को समानांतर विकसित करना। भागवत के मामले में यह प्रक्रिया इसलिए अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि आरएसएस भारत में जितना प्रभावशाली है, अमेरिका में उसकी वैचारिक पहचान उतनी निर्विवाद नहीं है।

भागवत के न्यूयॉर्क कार्यक्रम का आयोजन American Hindus for Engagement and Dialogue यानी AHEAD Forum ने किया। उसका सार्वजनिक परिचय सांस्कृतिक संवाद, समुदायों के बीच पुल और 'धार्मिक मूल्यों' के माध्यम से शांति तथा सद्भाव को बढ़ावा देने वाले संगठन के रूप में है। उसके अपने मंच पर 'Global Unity', 'Cultural Exchange' और 'Dharmic Values' जैसे शब्द प्रमुख हैं।

लेकिन AHEAD की भूमिका को लेकर अमेरिकी मीडिया और आलोचक कई प्रश्न उठा रहे हैं। Al Jazeera ने उसकी संस्थागत पृष्ठभूमि और आरएसए से जुड़े प्रवासी नेटवर्क के साथ उसके संबंधों की पड़ताल की है। कुछ आलोचनात्मक रिपोर्टों ने AHEAD को आरएसएस/HSS से जुड़े पुराने नेटवर्क की नई सार्वजनिक संरचना के रूप में देखने का तर्क दिया है। इन दावों को AHEAD या आरएसएस की ओर से स्वीकार किया गया तथ्य मानना उचित नहीं होगा; इसलिए इन्हें आरोप या investigative findings के रूप में ही देखना चाहिए। AHEAD अकेला नहीं है। आयोजकों ने 250 से अधिक हिन्दू-अमेरिकी संगठनों के समर्थन का दावा किया।

अमेरिका में हिन्दू पहचान को लेकर राजनीति केवल धार्मिक अधिकारों का प्रश्न नहीं रह गई है। भारतीय राजनीति की वैचारिक बहसें भी वहां पहुंच चुकी हैं।

ऐसे संगठन हैं जो भारत की हिन्दू पहचान और भाजपा/आरएसएस के प्रति सकारात्मक दृष्टि रखते हैं। दूसरी ओर Hindus for Human Rights, Indian American Muslim Council, Dalit Solidarity Forum और अन्य नागरिक अधिकार संगठन हिन्दुत्व की राजनीति की आलोचना करते हैं। भागवत के कार्यक्रम का विरोध इसी विभाजन का सार्वजनिक प्रदर्शन था। 65 से अधिक अमेरिकी संगठनों ने यात्रा का विरोध किया, जबकि समर्थकों ने सैकड़ों हिन्दू संगठनों के समर्थन की बात कही। यहां गंभीर राजनीतिक प्रश्न पैदा होता है। क्या 'हिन्दू अमेरिकन' अपने आप में एक राजनीतिक पहचान बन रही है?

न्यूयॉर्क के मेयर ज़ोहरान ममदानी ने कहा कि वह आरएसएस की विचारधारा अथवा कार्यक्रम का समर्थन नहीं करते। उन्होंने इसे भारत की बहुलतावादी और धर्मनिरपेक्ष दृष्टि से असंगत बताया।

इसके बाद अमेरिकी धार्मिक स्वतंत्रता आयोग USCIRF ने आरएसएस और भारत में धार्मिक अल्पसंख्यकों की स्थिति को लेकर गंभीर आरोप लगाए और आरएसएस से जुड़े लोगों पर लक्षित प्रतिबंध तथा भागवत का वीजा रद्द करने जैसी सिफारिशें कीं। भारत सरकार इन आरोपों को पक्षपातपूर्ण बताती है और आरएसएस स्वयं को हिन्दू सांस्कृतिक संगठन के रूप में प्रस्तुत करता है। USCIRF की सिफ़ारिशें बाध्यकारी नहीं हैं और अमेरिकी सरकार ने इन सिफारिशों पर कार्रवाई नहीं की है।

USCIRF की रिपोर्ट या सिफारिश आरएसएस के विरुद्ध अमेरिकी सरकार का अंतिम निर्णय नहीं है। लेकिन यह भी तथ्य है कि संघ को लेकर अंतरराष्ट्रीय धार्मिक स्वतंत्रता विमर्श में गंभीर प्रश्न उठ रहे हैं। यही वह स्थिति है जिसके बीच भागवत ने अमेरिका में अपनी सबसे समावेशी भाषा प्रस्तुत की।

भागवत का यह कहना कि भारत में मुसलमानों के न होने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति हिन्दू नहीं है, राजनीतिक दृष्टि से असाधारण रूप से महत्वपूर्ण है। यह कथन भारत में चल रही हिन्दुत्व की बहस के बीच संघ की ओर से स्पष्ट संदेश के रूप में देखा जा सकता है। लेकिन इसके दो अर्थ हैं। पहला, संघ अपनी विचारधारा की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत कर रहा है जिसमें मुस्लिम नागरिक भारत की सांस्कृतिक अवधारणा के बाहर नहीं हैं। दूसरा, यह संदेश अमेरिका जैसे समाज में संघ की छवि को लेकर मौजूद आशंकाओं का प्रत्यक्ष उत्तर भी है। लेकिन असली परीक्षा भाषण की नहीं, व्यवहार की होगी।

भागवत की यात्रा में 'वसुधैव कुटुंबकम' बार-बार आया। इसमें कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। लेकिन जब कोई संगठन इसे अपनी अंतरराष्ट्रीय पहचान का केन्द्रीय सूत्र बनाता है, तो वह राजनीतिक भाषा भी तैयार करता है।

भारत केवल आधुनिक राष्ट्र-राज्य नहीं, बल्कि प्राचीन सभ्यता के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। RSS इसे हिन्दू सांस्कृतिक दृष्टि के साथ जोड़ता है। यहीं 'Indian civilisation' और 'Hindu civilisation' के अर्थों को लेकर बहस शुरू होती है। अमेरिका में यह बहस और अधिक जटिल हो जाती है क्योंकि वहां 'religious freedom', 'pluralism', 'minority rights' और 'ethnic identity' अलग-अलग राजनीतिक अर्थ रखते हैं।

इस पूरे दौरे को समझने के लिए शायद अधिक उपयोगी शब्द है—legitimacy यानी वैधता। आरएसएस भारत में अत्यंत शक्तिशाली सामाजिक संगठन है। लेकिन पश्चिमी सार्वजनिक विमर्श में उसके सामने तीन समस्याएं हैं—उसकी हिन्दुत्व की विचारधारा, भाजपा के साथ उसका संबंध और भारत में अल्पसंख्यकों की स्थिति को लेकर उठते प्रश्न। यदि संघ अपनी वैश्विक छवि को केवल प्रचार के सहारे बदलना चाहता है, तो यह रणनीति लंबे समय तक सफल नहीं होगी।

सबसे बड़ा विरोधाभास यही है कि संघ पहली बार अपने को वैश्विक सांस्कृतिक संगठन के रूप में प्रस्तुत करना चाहता है, लेकिन दुनिया उसे भारत की राजनीतिक बहसों से अलग करके देखने को तैयार नहीं है। इस परियोजना की सफलता अंततः इस बात पर निर्भर करेगी कि उसकी अंतरराष्ट्रीय भाषा और भारत में उसके सामाजिक-राजनीतिक व्यवहार के बीच कितनी दूरी रहती है। ■

काश, भागवत ने शाखाओं में दिया होता यह बयान

यह सोचना लाज़िमी है कि नई परिभाषा के तहत अब कौन सब हिन्दू नहीं रह पाएंगे

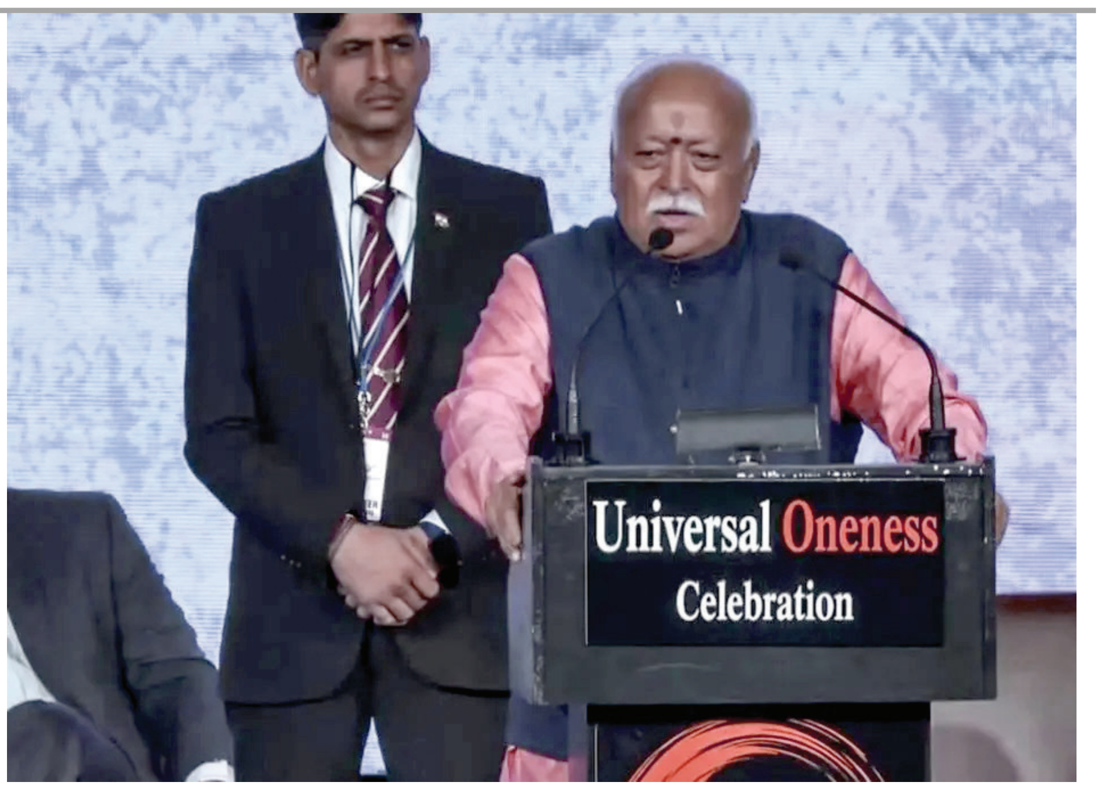

न्यूयॉर्क में एक कार्यक्रम को संबोधित करते संघ प्रमुख मोहन भागवत

मीनाक्षी नटराजन

हाल ही में कुछ बयान जो विदेश में दिए गए। शतक पूर्ण किए सांस्कृतिक संगठन के प्रमुख ने न्यूयॉर्क में जो कहा, उसकी अनुगूंज भारत में सुनाई पड़ रही है। कुछ साल पहले तक भी आदर्श अल्पसंख्यक को परिभाषित किया जाता था। यही संगठन सबकी राष्ट्रवादिता का भौतिक सत्यापन करता है। अब की बार यह बताया गया कि कौन क्या करने पर हिन्दू नहीं रहेगा? बहुत खूब!

काश कि कथनी और करनी में फर्क नहीं होता। यह सोचना लाज़िमी है कि इस नई परिभाषा के तहत अब कौन सब हिन्दू नहीं रह पाएंगे। भारत के तहज़ीबी वातावरण में अभी कुछ और तरह की भी अनुगूंज कराह सुनाई पड़ती रहती हैं। यदि अंतरात्मा के कर्णों से श्रवण किया जाए, तो बयान कुछ कहता है।

यानी जिन्होंने अख़लाक़ पर पत्थर बरसाए, वे हिन्दू नहीं। गुजरात के ऊना में दलितों पर कोड़े बरसाए, वे हिन्दू नहीं। जिन्होंने किसान आंदोलनकारियों को आतंकवादी कहा, वे भी हिन्दू नहीं। एक अदने से चूड़ी वाले को पीटा, वे हिन्दू नहीं। उत्तराखंड के मंदिर प्रांगण में जिस प्यासे को पानी नहीं मिला, उसको लहूलुहान किया गया। वे हिन्दू नहीं। जिसने युगांतरकारी सत्यान्वेषी पर तीन गोलियां दागी, वह हिन्दू नहीं। वे सरकारें, जो वोटर सूची से नाम काटकर उन्हें राशन तक से वंचित करती हैं, हिन्दू नहीं। जो बुलडोजर चलवातीं हैं, डिटेंशन सेंटर भेज देती हैं, सौ सिर कटवाने की वकालत करती हैं, वे भी नहीं। जो राम नाम लेकर करोड़ो गबन करते हैं, वे भी हिन्दू नहीं। ग्राहम स्टीन को ज़िंदा जलाने वाले भी हिन्दू नहीं। लव जेहाद के नाम पर नफरतपरस्ती हिन्दू नहीं। डिलिस्टिंग की कवायद हिन्दू नहीं।

मगर यह सब तो बहुत पहले से वे जानते हैं, जो सच्ची आस्था रखते हैं। असल में जो कोई हिंसा, व्यभिचार, नफरत भेद का इस्तेमाल करते हैं, वे आस्थावान हो नहीं सकते, न तो धार्मिक ही हो सकते हैं। चूंकि उनका मार्ग अधर्म का है, जिनका विश्वास मानवता में नहीं। वे सिर्फ हिन्दू ही नहीं होते, वे कभी इस्लाम, ईसाई, बौद्ध, जैन, सिक्ख या नास्तिक भी नहीं हो सकते। नास्तिक भी क्योंकि मानवतावादी तो होते हैं।

काश कि यह बयान शाखाओं में बारंबार दिया गया होता।

वैसे इन सबसे परे कुछ और भी ख्याल आते हैं। किसी की आस्था को कोई और प्रमाणित नहीं कर सकता। धर्म के दो स्तर हैं। उसके आध्यात्मिक पक्ष की कोई हदबंदी नहीं हो सकती। वह अनंत है। उपनिषद कहते हैं कि वह क्या नहीं है, 'नैति-नैति' ही कहा जा सकता है। वह क्या है, यह बताना मुश्किल है। अध्यात्म सरहदों से ऊपर है, जहां सोच खत्म हो जाती है। अभ्यास या सिलसिला अविरल बहता है ऐक्य बनता है। पर धर्म का प्रशासकीय ढांचा इससे अलग है। वहां सीमा होती है। चौकी बैठाते हैं, स्वयंभू पहरेदार डंडा बजाते हैं। अध्यात्म में सरहद हो सकती है, जहां से आना-जाना कोई खास बड़ी बात नहीं। कई तहज़ीब मूल्य साझा हो जाते हैं। अली को गाते-गाते किशन कन्हैया को गाने लगते हैं। पर सीमा पक्की होती है। सीमा की जरूरत बंटवारा है। उसके बिना उसका गुजारा नहीं चलता। हर मज़हब के प्रशासकीय तंत्र में सीमाएं खिंची जाती हैं। यहां आदान-प्रदान के लिए परमिट जारी होता है। विशेषकर स्त्रियों को कोई इज़ाजत नहीं मिलती। वे आध्यात्मिक तौर पर आज़ाद होने पर भी विरले ही प्रशासकीय ढांचों की अदला-बदली कर सकती हैं। उन्हें सूफी, भक्ति, विदुषि संतों ने किया जिन्होंने फिर संसार के किसी विधान को नहीं माना।

धर्म का यह प्रशासकीय ढांचा बाज़ार से गठजोड़ कायम करता है। नहीं तो उसकी गुजर-बसर संभव नहीं। जहां अध्यात्म को निश्चित आकार मिला नहीं कि भौतिक निर्माण शुरू हो जाता है। उसके इर्दगिर्द बाज़ार पनपता है। चढ़ावा उसका ही भाग है। बाजार आएगा, तो मुनाफ़े की बात होगी, कमाने की नियत बनेगी। वरना कौन से राम या भगवान ने कुछ मांगा है।

जो कोई हिंसा, व्यभिचार, नफरत, भेद का इस्तेमाल करते हैं, वे आस्थावान हो नहीं सकते, न तो धार्मिक ही हो सकते हैं। जिनका विश्वास मानवता में नहीं, उनका मार्ग अधर्म का है

यह भी याद रखा जाए कि सीमाओं में बंधे राष्ट्र-राज्यों का इतिहास मात्र कुछ सौ साल का है। उससे भी थोड़ा कम ही है। इस हदबंदी के बाद कोई नया फलसफा, कोई बोध, कोई आयत उतरी नहीं। कोई संप्रदाय यदि फैला तो वह है- बाज़ार। अध्यात्म सीमित होकर कायम हो भी नहीं सकता। नानक ने अपने जीवन में दूर तक यायावरी की और उससे अपना सिलसिला कायम किया। बुद्ध चलते गए। उपनिषद 'चरैवेति चलिष्यामः निरंतर' को गाते हैं। जो सीमा बनाकर टिक गए, वे नष्ट होंगे। यह कर्नाटक के मध्यकालीन संत बसवण्णा कहते हैं। आदिवासियत और खानाबदोशी इसलिए करीबन दो लाख साल से टिकी हुई है कि वे सीमित नहीं होते। भूमि प्रकृति के चक्र को समझकर घूमते हैं। चल पड़ते हैं।

ऐसे में कुछेक प्रतिक्रिया भी याद आती है। यह कहा गया कि बाबर के देश में वज़ीरे आला को सम्मान मिला। तब लगता है कि आखिर अपनी समझ को क्या इतना तत्कालीन रखना चाहिए कि हमें विगत की व्यवस्था ही न समझ आए। उस समय की सरहदें आज से बेहद भिन्न थीं। यह सही है कि व्यक्ति को अपने जन्मस्थान से बहुत लगाव होता है। बाबर वहीं पैदा हुआ। उसने अपने साम्राज्य का विस्तार किया। पर क्या उज़्बेकिस्तान मात्र उसका है? क्या कोई देश सिर्फ किसी शासक का होता है। या इस बयान के जरिये हम आज भी भारत को मात्र उसके शासन तंत्र का मानते हैं। फिर उज़्बेकिस्तान के साथ केवल यही एक रिश्ता तो नहीं। कहते हैं कि लोककथाओं में प्रसिद्ध महिवाल, सोहनी का प्रेम उज़्बेकी था। उस वक़्त आज के राष्ट्र-राज्य की हदें नहीं थीं।

तक्षशिला या सागल प्रांत (सियालकोट) पर किसी समय ईरानी शासक दारियूस का भी नियंत्रण रहा। मध्य एशियाई घास के मैदानों से आया समूह उत्तर पश्चिम से पंजाब तक बढ़ा। वह संस्कृत की जननी भाषा बोलने वाला समूह था। अनेक मध्य एशियाई समूह यूची, हिन्द, यवन, शक, पार्थियाई उत्तर और पश्चिमी भारत तक फैले। केवल मुगलों की बात करें, तो उनका मूल मध्य एशियाई कबीलाई है, वे तहज़ीबी तौर पर फ़ारसी हुए नवरोज मनाते रहे। उन्होंने अरब में पनपे इस्लाम को अपनाया। उनकी अगली पीढ़ीयो का जन्म उत्तर भारत में हुआ, उत्तर भारत का रंग उन पर चढ़ा, उनकी शुरुआती भाषा तुर्की रही। सो उनको इन सबमें कहां का कहा जाए?

उस समय के आधार पर अब किसी का कोई अखंड राष्ट्र बन नहीं सकता। दरअसल, उस समय भी कोई अखंड राष्ट्र नहीं था। सरहदे थीं, जो बनती-बिगड़ती रहती थीं। इनसे परे जाकर आध्यात्मिक सिलसिला निर्झर होकर बहता था। वह कहीं कैद नहीं हुआ। भारत के भूभाग का तहज़ीबी विस्तार दक्षिण एशिया तक हुआ। पर हर विस्तार में स्थानिक रंग जुड़े। भारत को मात्र भूमि मानना उनको शोभा देता है जो उसके जरिये संसाधन पर कब्जा चाहते हैं। पर भारत कहां नहीं है! जहां मानवीय करुणा है, वहां भारत है। नेल्सन मंडेला, सरहदी गांधी, डॉ. कोटनिस क्या भारत का प्रतिबिंब नहीं।

भले आज की हुकूमत इनको दिमागी नक्सल कह डाले, इतना तय है कि यह सभी धार्मिक थे, मानवीयता से भरे थे और उसके लिए सर्वस्व न्योछावर कर सकते थे। फिर वे हिन्दू थे या नहीं? भारत के थे या नहीं? यह सवाल अप्रासंगिक है। ■

बाघों की संख्या अब 112 हो गई है, जो 2010 में 18 थी। रिज़र्व में लगभग 651 हाथी हैं

एक खो गए जंगल की संदिग्ध वापसी

वीरप्पन के दौर का खतरा तो टला लेकिन अब टूरिज़्म आदि का प्रकोप हावी

के.ए. शाजी

सत्यमंगलम के वन रक्षकों को तालावडी और तालमलाई के आस-पास की गहरी घाटियों, ढिंबम के घुमावदार रास्तों और मोयार की ओर फैले दुर्गम इलाकों वाले वे दिन आज भी याद हैं, जब जंगल में घुसने का मतलब वीरप्पन की दुनिया में कदम रखना होता था। कूसे मुनिस्वामी वीरप्पन इन जंगलों के लिए महज एक भगोड़ा नहीं था। तीन दशक से ज्यादा समय तक, उसने न सिर्फ बंदूक, चंदन, हाथीदांत और मुखबिरों का एक समानांतर साम्राज्य खड़ा किया; तमिलनाडु और कर्नाटक के जंगलों में आतंक का नंगा नाच किया।

इसकी भारी मानवीय और पर्यावरणीय कीमत थी- पुलिसकर्मियों, वन अधिकारियों और आम नागरिकों समेत 180 लोगों की हत्या हुई; लगभग 40,000 किलोग्राम हाथीदांत के लिए 2,000 हाथी मारे गए; और 100 करोड़ के चंदन की तस्करी हुई। 45 से ज्यादा अपहरण हुए जिनमें में कन्नड़ फिल्म स्टार राजकुमार भी शामिल थे। राजकुमार को वर्ष 2000 में 108 दिन बंधक बनाकर रखा गया था।

18 अक्तूबर 2004 को जब पप्पारापट्टी के पास तमिलनाडु स्पेशल टास्क फोर्स के ऑपरेशन में वीरप्पन और उसके तीन साथी मारे गए, तो सत्यमंगलम ने राहत की सांस ली। बंदूकों की आवाज थमने और सरकार के जंगल पर दोबारा नियंत्रण हासिल करने के बाद, संगठित शिकार और अवैध कटाई से बर्बाद इलाके को संभलने का मौका मिला। यह सुधार वाकई कमाल का रहा।

सत्यमंगलम 2008 में एक वाइल्डलाइफ सैंक्चुअरी और 2013 में टाइगर रिजर्व बना। लगभग 1,408 वर्ग किलोमीटर में फैला यह रिजर्व दक्षिण भारत के सबसे महत्वपूर्ण वाइल्डलाइफ कॉरिडोर में से एक है, जो न सिर्फ पश्चिमी-पूर्वी घाटों को जोड़ता है, नीलगिरि को बिलिगिरिरंगा क्षेत्र और पूर्वी जंगलों से मिलाता है। हालिया कैमरा-ट्रैप सर्वे के अनुसार इस वक्त यहां 112 बाघ हैं, जबकि 2010 में यह संख्या 18 थी। हाथियों की आबादी भी लगभग 651 है, और शिकार रोधी 54 कैंप अब पैदल गश्त, वॉचर, कैमरों और खुफिया जानकारी के जरिये नियमित सुरक्षा में मददगार हैं।

पर्याप्त शिकार, पानी, छिपने और खुली जगह के बिना बाघ इतनी बड़ी संख्या में तो पनप नहीं सकते। बाघों की आय वापसी बड़े सुधार का संकेत है।

सत्यमंगलम टाइगर रिजर्व के चीफ कंजर्वेटर और फील्ड डायरेक्टर के. राजकुमार कहते हैं, "जानवर तमिलनाडु और कर्नाटक, या एक वन क्षेत्र से दूसरे के बीच की सीमायें नहीं पहचानते। एक टाइगर रिजर्व न सिर्फ अपने जानवरों के लिए, बल्कि उस विशाल वन प्रणाली के लिए भी मायने रखता है, जिसे वह जोड़े रखता है। इसीलिए सत्यमंगलम में बाघों का बढ़ना बड़ी बात है।"

सत्यमंगलम में वन्यजीवन की वापसी के जश्न में अक्सर एक पहलू नजरअंदाज हो जाता है: स्थानीय निवासी। जंगल के अंदर और आस-पास की रिहाइश में आदिवासी भी हैं, जिनका इलाके से रिश्ता रिजर्व बनने से भी पहले का है। रिजर्व में तीन विकास खंड (सत्य, भवानीसागर और तलवाड़ी) के हिस्से आते हैं, जिनमें कई राजस्व गांव और वन बस्तियां शामिल हैं। इनमें सोलिगा, इरुला, कुरुम्बा और ऊराली जैसे आदिवासी समुदाय भी हैं। वन विभाग के मौजूदा रिकॉर्ड के अनुसार पांच मुख्य बस्तियों में 402 आदिवासी परिवार और 1,807 लोग रहते हैं, जबकि पुराने प्रबंधन आंकड़े गवाह हैं कि कोर और बफर इलाकों में आदिवासी-गैर-आदिवासी बस्तियों का नेटवर्क कहीं ज्यादा बड़ा था।

इनके लिए जंगल ही उनका घर है। वे जमीन के छोटे-छोटे टुकड़ों पर खेती करते हैं, शहद और जंगल से मिलने वाली अन्य चीजें (लकड़ी के अलावा) इकट्ठा करते, मवेशी चराते और इलाके से अपने सांस्कृतिक और आध्यात्मिक रिश्ते बनाए रखते हैं। इन सब पर पर उनकी जानकारी पीढ़ियों पुरानी है।

वीरप्पन के दौर में, ये अक्सर शक के दायरे में रहते। क्योंकि वह गैंग ऐसे इलाकों में काम करता था, जिन्हें वहां के जंगल में रहने वाले अच्छी तरह जानते थे, इसलिए आदिवासियों पर मुखबिर, गाइड या मददगार होने के आरोप सरकारी और आम चर्चाओं का हिस्सा थे। नतीजतन, सरकार और जंगल में रहने वाले कई समुदायों के बीच अविश्वास का माहौल बन गया था।

आज, आदिवासी समुदाय जंगल के सुरक्षा तंत्र का हिस्सा हैं। रिजर्व में 28 आदिवासी ग्राम वन समितियों के साथ ही अन्य ग्राम और संयुक्त वन प्रबंधन समितियां हैं। सुरक्षा, आवास बहाली, माइक्रो-प्लानिंग, गैर-लकड़ी वन उत्पाद संग्रह और आजीविका कार्यक्रमों में स्थानीय लोगों की भगीदारी है। कभी किसी डाकू के 'सहयोगी' माने जाने वालों के लिए यह बड़ा बदलाव है। मूल निवासियों को बाहरी मानकर लंबे समय तक संरक्षण सफल भी नहीं हो सकता।

*

हालांकि, वन्यजीवों से धनोपार्जन का लालच अब भी कायम है। वीरप्पन की मौत के बाद के वर्षों में, 'जूनियर वीरप्पन' सामने आए। उनमें वीरप्पन जैसी ताकत तो नहीं थी, लेकिन जंगल, रास्तों और दो राज्यों में फैले इलाके में पुलिसिंग की मुश्किलों की अच्छी जानकारी थी। ।

साल 2024 में थलावडी के पास 18 साल का एक नर हाथी मृत पाया गया, जिसके दांत गायब थे। वन अधिकारियों के अनुसार उसे गोली मारी गई थी। हाथी के दांत रखने के आरोप में कर्नाटक से एक गिरफ्तारी भी हुई। यह उस क्रूरता की याद दिलाता है कि हाथी के शिकार को संगठित अपराध बनाने वाले व्यक्ति के जाने मात्र से हाथी दांत का व्यापार खत्म नहीं हो गया है।

लेकिन अब 'दुश्मन नंबर 1' कोई जरूरी नहीं कि राइफल लिए कोई इंसान ही हो !सड़कें भी लगातार खतरा बनी हुई हैं। हाईवे की वजह से वाइल्डलाइफ वाले इलाकों में यातायात बढ़ गया है, जो जानवरों की आवाजाही में बाधक है। सड़क पार करते हाथियों को सबसे ज्यादा खतरा होता है।

बिजली की लाइनें और किसानों द्वारा लगाई गई करंट युक्त बाड़ भी हैं। खेती और जंगल के किनारे वाले इलाकों से गुजरने वाले हाथियों की, ठीक से इंसुलेट न की गई या गैर-कानूनी बिजली लाइनों के संपर्क में आने मौत हुई हैं। और फिर पत्थर की खदानें भी हैं।

तलावाड़ी के सूसाईपुरम इलाके में पत्थर की बंद खदानें अब तेंदुओं के छिपने का ठिकाना हैं। आदिवासी संगठन 'पझंकुडी मक्कल संघम' के वी.पी. गुनासेखरन कहते हैं, "ये जानवर गहरी खदानों और चट्टानों की खोहों में पनाह लेते हैं और पास की बस्तियों से मवेशियों का शिकार करते हैं।"

सत्यमंगलम के आस-पास के इलाके में ग्रेनाइट और पत्थर के अन्य भंडारों की व्यावसायिक अहमियत है, और साथ ही पर्यटन का भी महत्व है।

कोयंबटूर के रहने वाले पर्यावरण संरक्षण कार्यकर्ता और 'एनवायरनमेंट कंजर्वेशन ग्रुप' के संस्थापक मोहम्मद सलीम कहते हैं, "पर्यटन नियमों से ज्यादा तेजी से बढ़े, तो नुकसानदेह हो सकता है। रिजॉर्ट का मतलब है सड़कें, गाड़ियां, लाइटें, कचरा, जल दोहन और आवागमन। 2025 में, अधिकारियों ने इको-सेंसिटिव जोन में जरूरी मंज़ूरी के बगैर चल रहे दर्जनों रिजॉर्ट और फार्महाउस की पहचान की।"

जंगल के किनारे रहने वाले समुदायों के लिए, जंगली जानवरों की संख्या में इजाफा एक अलग तरह का दबाव बनाता है।

आदिवासी नेता के. मल्लप्पा कहते हैं, "सूखे के महीनों में पानी और चारे की कमी के कारण हाथी गन्ने, केले और अन्य फसलों की तलाश में आते हैं। बाघ और तेंदुए मवेशियों की ताक में रहते हैं। किसान जवाब में बाड़ लगाते, लाइट जलाते और शोर मचाते हैं... फसल पर होने वाला हर हमला उस जानवर के प्रति नाराजगी बढ़ा सकता है, जिसे कानून से सुरक्षा तो मिली है, लेकिन जो लोगों की आजीविका के लिए सीधा खतरा भी लगता है।"

वन विभाग आस-पास रहने वाले लोगों को नजरअंदाज करके वन्यजीवों की सुरक्षा नहीं कर सकता। मुआवजा, समय रहते चेतावनी सिस्टम, सुरक्षित बाड़, हाथियों की आवाजाही का बेहतर प्रबंधन और सच्ची स्थानीय भागीदारी उतनी ही जरूरी है, जितने कि अवैध शिकार रोकने वाले शिविर। रिजर्व का अपना संरक्षण मॉडल पहले से इसी दिशा में सक्रिय है।

लेकिन पुराने शक आसानी से नहीं जाते। अगस्त में तालमलाई रेंज के बेजालट्टी गांव के पास एक सड़ी-गली बाघ की लाश मिलने से पता चला कि वीरप्पन की यादें आज भी लोगों पर हावी हैं। पंजे और दांत गायब होने की वजह से संरक्षणवादियों ने बारीक फोरेंसिक जांच की मांग की।

इंसान और जानवरों के साथ रहने की व्यवस्था को निष्पक्षता और पारंपरिक ज्ञान के सम्मान के साथ चलाया जाए, तो सत्यमंगलम यह दिखा सकता है कि वन्यजीवों की संख्या बढ़ना और समुदाय के अधिकार परस्पर विरोधी नहीं हैं। बाघ इसलिए वापस आया क्योंकि जंगल को पनपने का मौका मिला। हाथी इसलिए बच पाया क्योंकि सुरक्षा बेहतर हुई। सफलता की अगली कसौटी यह होगी कि क्या जंगल में और जंगल के साथ रहने वाले लोगों को इसके भविष्य की सुरक्षा में बराबर और अहम भूमिका दी जाती है। ■

> आज यहां दुश्मन कोई राइफल लिए हुए आदमी नहीं है। बल्कि सड़कें, रिज़ॉर्ट और बिजली की लाइनें हैं

சத்தியமங்கலம் புலிகள் காப்பகம்
Sathyamangalam Tiger Reserve

सत्यमंगलम 2008 में वन्यजीव अभयारण्य और 2013 में टाइगर रिज़र्व बना

प्रकृति का प्रकोप या विकास दृष्टि की विफलता?

नेपाल की त्रासदी ने सवाल खड़ा किया है: क्या हम पुराने ढंग से विकास और आपदा प्रबंधन की कल्पना कर रहे हैं?

शैलेंद्र चौहान

नेपाल जिस त्रासदी से गुजर रहा है, उसे केवल एक और प्राकृतिक आपदा कहकर आगे बढ़ जाना पर्याप्त नहीं। हिमालयी क्षेत्र में आई हाल की भीषण बाढ़ ने जिस तरह जीवन, बस्तियों, सड़कों, पुलों, जलविद्युत परियोजनाओं और सीमापार संपर्क को तबाह किया है, उसने बड़ा सवाल फिर खड़ा किया है कि क्या हम बदलती प्रकृति के सामने पुराने ढंग से विकास और आपदा प्रबंधन की कल्पना कर रहे हैं?

26 अगस्त 2026 को नेपाल-चीन सीमा से लगे रासुवा क्षेत्र में अचानक आई बाढ़ ने व्यापक तबाही मचा दी। यह सामान्य मानसूनी बाढ़ जैसी घटना नहीं थी। उपलब्ध वैज्ञानिक और समाचार रिपोर्टों के अनुसार, हिमालय में एक ग्लेशियर और उससे जुड़े चट्टानी-बर्फीले मलबे के ढहने से ल्हेंदे खोला नदी में अत्यंत तीव्र जल-प्रवाह और मलबे का सैलाब आया। उसके बाद यह विनाशकारी प्रवाह त्रिशूली और भोते कोशी नदी तंत्र की ओर बढ़ा।

इस आपदा में सैकड़ों लोगों की जान गई है और हजारों लोग लापता हैं। अनेक परिवारों का प्रियजनों से संपर्क टूट गया है। घर, सड़कें, पुल और बिजली की परियोजनाएं नष्ट हुई हैं। दुर्गम पहाड़ी भूगोल के कारण राहत और खोज-बचाव अभियान भी असाधारण कठिनाइयों का सामना कर रहे हैं। नेपाल सरकार के अनुसार पुनर्निर्माण की लागत अरबों डॉलर तक पहुंच सकती है।

लेकिन इस त्रासदी का सबसे गंभीर पक्ष केवल वर्तमान नुकसान नहीं, भविष्य की चेतावनी भी है। नेपाल की भौगोलिक संरचना उसे स्वाभाविक रूप से बाढ़, भूस्खलन और अचानक आने वाली बाढ़ों के प्रति संवेदनशील बनाती है। हिमालय से निकलने वाली नदियां अत्यधिक ढाल वाले भूभाग से गुजरती हैं। मानसून में भारी वर्षा, बादल फटना, भूस्खलन और नदी का तीव्र प्रवाह एक-दूसरे से जुड़ जाते हैं। ग्लेशियरों के पीछे बनती झीलों के फटने यानी ग्लेशियल लेक आउटबर्स्ट फ्लड का खतरा भी बना हुआ है। विश्व बैंक और अन्य संस्थाओं के अध्ययन लंबे समय से नेपाल को बाढ़ और ग्लेशियल झीलों से जुड़ी आपदाओं के प्रति अत्यधिक संवेदनशील बताते रहे हैं।

ताजा घटना ने एक और महत्वपूर्ण बात सामने ला दी है कि हर बाढ़ बारिश से नहीं आती। पारंपरिक बाढ़-पूर्व चेतावनी तंत्र मुख्यतः वर्षा की मात्रा और नदी के जलस्तर पर निर्भर करते हैं। लेकिन किसी ऊंचे हिमालयी क्षेत्र में अचानक ग्लेशियर, चट्टान या बर्फ का विशाल हिस्सा टूटकर नदी में गिर जाए, तो नीचे रहने वाले लोगों के पास चेतावनी के लिए बहुत कम समय बच सकता है। हाल की घटना को विशेषज्ञों ने इसी तरह की अत्यंत तीव्र 'ब्लू-स्काई फ्लड' के रूप में देखा है—अर्थात ऐसी बाढ़ जो स्थानीय स्तर पर असाधारण वर्षा के बिना भी अचानक आ सकती है। इसलिए समस्या को केवल 'बाढ़' के रूप में देखना भूल होगी। यह हिमालय के बदलते पर्यावरण, जलवायु परिवर्तन, भूमि-उपयोग, अव्यवस्थित निर्माण और कमजोर आपदा-पूर्व तैयारी का सम्मिलित प्रश्न है।

जलवायु परिवर्तन परिदृश्य को और जटिल बना रहा है। तापमान में वृद्धि से हिमालयी ग्लेशियर पीछे हट रहे हैं। कई क्षेत्रों में अस्थिर ग्लेशियल झीलों का खतरा बढ़ रहा है। तीव्र वर्षा की घटनाओं में परिवर्तन और पर्वतीय ढलानों की अस्थिरता भी जोखिम को बढ़ा सकती है। नेपाल का योगदान वैश्विक ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जन में बहुत छोटा है, लेकिन जलवायु परिवर्तन के प्रभावों को झेलने वाले देशों में वह अग्रिम पंक्ति में है।

यहां जलवायु न्याय का प्रश्न भी उठता है। जिन देशों का वैश्विक उत्सर्जन में योगदान नगण्य है, वे जलवायु संकट की भारी कीमत चुका रहे हैं। हिमालय केवल नेपाल का नहीं है। उसकी बर्फ, नदियां और पारिस्थितिकी भारत, भूटान, बांग्लादेश और चीन सहित पूरे दक्षिण एशिया के जीवन से जुड़ी हैं। इसलिए हिमालय में होने वाला परिवर्तन किसी एक देश की समस्या नहीं हो सकता।

जलवायु परिवर्तन को हर आपदा का अकेला कारण मान लेना भी गलत होगा। मानवीय गतिविधियां भी कारण होती हैं। पर्वतीय क्षेत्रों में सड़क निर्माण, सुरंगें, जलविद्युत परियोजनाएं, नदी किनारे निर्माण और पर्यटन का विस्तार स्थानीय भूगोल और पारिस्थितिकी की सीमाओं की उपेक्षा करके किया जाए, तो जोखिम कई गुना बढ़ जाता है।

नेपाल के सामने विकास की वास्तविक आवश्यकता भी है। सड़कें, बिजली, पर्यटन और रोजगार आदि चाहिए। समस्या विकास की आवश्यकता में नहीं, विकास की उस धारणा में है जो पहाड़ को केवल संसाधन और नदी को केवल ऊर्जा की इकाई मानती है। जलविद्युत नेपाल के लिए आर्थिक विकास का महत्वपूर्ण आधार है, लेकिन किसी परियोजना का मूल्यांकन केवल उसकी बिजली उत्पादन क्षमता से नहीं किया जा सकता। यह भी पूछा जाना चाहिए कि वह किस भूगर्भीय क्षेत्र में है, भूस्खलन का जोखिम कितना है, उसके ऊपर और नीचे कौन-सी बस्तियां हैं, ग्लेशियल झीलों और नदी-प्रवाह में संभावित बदलाव का क्या असर होगा और अत्यधिक बाढ़ की स्थिति में उसके लिए आपात योजना क्या है।

सड़क निर्माण को केवल सड़क की लंबाई से नहीं मापा जाना चाहिए। पहाड़ काटकर बनाई गई सड़क पहली ही बड़ी बारिश में भूस्खलन का कारण बन जाए या नदी में भारी मात्रा में मलबा पहुंचा दे, तो वह विकास कम और जोखिम का विस्तार अधिक है।

इस आपदा का एक और सबक है। पूर्व चेतावनी व्यवस्था को नए सिरे से देखना होगा। नेपाल में वर्षा और नदी जलस्तर की निगरानी के साथ ग्लेशियरों, ग्लेशियल झीलों, पर्वतीय ढलानों और भूस्खलन संभावित क्षेत्रों की वास्तविक समय में निगरानी आवश्यक है। उपग्रह चित्रों, ड्रोन, रिमोट सेंसिंग, भूकंपीय सेंसर, नदी-स्तर सेंसर और कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित जोखिम-विश्लेषण को एकीकृत किया जा सकता है। लेकिन तकनीक तभी उपयोगी होगी, जब उसकी सूचना अंतिम व्यक्ति तक समय पर पहुंचे।

किसी दूरस्थ गांव में रहने वाले व्यक्ति के लिए यह जानना अधिक महत्वपूर्ण है कि 'अगले बीस मिनट में यहां से निकलना है'। स्थानीय समुदायों को आपदा-प्रबंधन की पहली पंक्ति बनाना होगा। गांव स्तर पर निकासी मार्ग, सुरक्षित ऊंचे स्थान, सामुदायिक आश्रय, प्राथमिक चिकित्सा, संचार व्यवस्था और नियमित अभ्यास जरूरी हैं। स्थानीय लोगों को यह पता होना चाहिए कि नदी का असामान्य व्यवहार, अचानक पानी का रंग बदलना, पहाड़ से असामान्य आवाजें आना या छोटे भूस्खलन जैसे संकेत किस बड़े खतरे की ओर इशारा कर सकते हैं।

दूसरा बड़ा उपाय है हिमालयी देशों के बीच वास्तविक समय में सूचना-साझेदारी। नदी की सीमा होती है, बाढ़ की नहीं। नेपाल में जन्म लेने वाला जलप्रवाह भारत में प्रवेश करता है। हिमालयी ग्लेशियर और झीलें राजनीतिक सीमाओं को नहीं मानतीं। इसलिए नेपाल, भारत और चीन के बीच मौसम, ग्लेशियर, ग्लेशियल झीलों, भूकंपीय गतिविधियों और नदी के जलस्तर से संबंधित सूचनाओं का साझा तंत्र होना चाहिए। इसे केवल कूटनीतिक सद्भावना का विषय नहीं, साझा सुरक्षा का विषय मानना होगा।

भारत के लिए भी नेपाल की आपदा केवल पड़ोसी देश की समस्या नहीं है। नेपाल की नदियां बिहार और उत्तर प्रदेश सहित भारत के बड़े भूभाग को प्रभावित करती हैं। किसी बड़े हिमालयी जलप्रवाह का प्रभाव सीमापार बहुत दूर तक जा सकता है। इसलिए नेपाल को तकनीकी, मानवीय और वैज्ञानिक सहायता देना भारत के अपने हित में भी है। हाल की त्रासदी के बाद भारत, चीन और अन्य देशों से राहत और तकनीकी सहायता पहुंचना शुरू हुआ है। आपदा के बाद सहायता देना पर्याप्त नहीं होगा। असली आवश्यकता आपदा से पहले निवेश करने की है। नेपाल को पुनर्निर्माण के लिए मिलने वाली सहायता का बड़ा हिस्सा केवल क्षतिग्रस्त ढांचे को उसी जगह उसी रूप में खड़ा करने में नहीं लगना चाहिए।

आवश्यकता 'बिल्ड बैक बेटर' की है, अर्थात पहले से अधिक सुरक्षित ढंग से पुनर्निर्माण। इसके लिए जोखिम मानचित्रों को विकास योजनाओं का आधार बनाना होगा। इससे संबंधित सवालों का जवाब वैज्ञानिक अध्ययन से देना होगा, राजनीतिक दबाव से नहीं।

प्राकृतिक आपदा कभी पूरी तरह 'प्राकृतिक' नहीं होती। भूकंप प्राकृतिक हो सकता है, लेकिन उससे कितनी मौतें होंगी, यह निर्माण-व्यवस्था तय करती है। बारिश प्राकृतिक है, लेकिन बाढ़ से कितनी तबाही होगी यह भूमि उपयोग, नदी प्रबंधन और चेतावनी तंत्र तय करते हैं। ग्लेशियर का टूटना प्राकृतिक प्रक्रिया हो सकती है, उसके सामने मनुष्य कितना असुरक्षित होगा, यह हमारी तैयारी तय करती है।

इसलिए नेपाल की वर्तमान बाढ़ को केवल राहत और बचाव की खबर बनाकर भूल जाना खतरनाक होगा। यह हिमालय के बदलते चरित्र और जलवायु परिवर्तन की चेतावनी है। विकास की मौजूदा अवधारणा पर सवाल है। सीमा-पार सहयोग की आवश्यकता की चेतावनी है। उस भ्रम के टूटने का क्षण है कि मनुष्य पहाड़ को अपनी सुविधा के अनुसार बदल सकता है और प्रकृति अंततः उसके अनुसार व्यवहार करेगी।

हिमालय को जीतने की नहीं, समझने की जरूरत है। नदियों को नियंत्रित करने से अधिक जरूरी है उनके स्वभाव को समझना। ग्लेशियरों को जीवित पारिस्थितिक तंत्र के रूप में देखना होगा। पहाड़ों में सड़क और बिजली पहुंचाने के साथ यह भी सुनिश्चित करना होगा कि विकास स्वयं विनाश का माध्यम न बन जाए।

नेपाल में जिन परिवारों के घर उजड़ गए हैं, जिनके प्रियजन लापता हैं और जिन गांवों का भूगोल ही बदल गया है, उनके लिए यह बहस बहुत अमूर्त नहीं है। उनके लिए यह जीवन और मृत्यु का प्रश्न है। शायद यही इस त्रासदी का सबसे कठोर संदेश है—प्रकृति अचानक बदलती हुई दिखाई देती है, लेकिन वास्तव में वह लंबे समय से संकेत दे रही होती है। संकट यह नहीं कि हमने संकेत देखे नहीं; संकट यह है कि हमने उन्हें विकास की शोरगुल में सुनना नहीं चाहा। ■

> प्रकृति अचानक बदलती हुई दिखाई देती है, लेकिन वास्तव में वह लंबे समय से संकेत दे रही होती है। संकट यह नहीं कि हमने संकेत देखे नहीं। संकट यह है कि हमने उन्हें विकास की शोरगुल में सुनना नहीं चाहा

फोटो: गेटी इमेजेज

नेपाल के नुवाकोट में विनाशकारी बाढ़ में नष्ट हुए घर

आस्था के मामले में सरकार का क्या काम

भारत के 13 राज्यों, जिनमें से 11 भाजपा शासित हैं, में कथित 'धार्मिक स्वतंत्रता' कानून अलग-अलग रूप में लागू हैं, जो वास्तव में इसी स्वतंत्रता पर बेहद कड़े प्रतिबंध लगाते हैं। इस खुले पत्र में, **ए.जे. फिलिप** महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री को संबोधित कर रहे हैं, जो इन राज्यों की फेहरिस्त में अभी 28 अगस्त को शामिल हुआ है

फोटो: गेटी इमेजेज

श्रीमान देवेंद्र फडणवीस जी,

आप इस बात से खुश हो सकते हैं कि महाराष्ट्र में 'धार्मिक स्वतंत्रता विधेयक' लागू हो गया है। लेकिन इसकी एक ऐसी विडंबना है जिसपर शायद आपका ध्यान नहीं गया।

पुणे में आपकी पुलिस इतनी उतावली थी कि उसने दो मामलों में इसे लागू करने से पहले राष्ट्रपति द्रौपदी मुर्मू की औपचारिक मंजूरी का इंतजार भी नहीं किया। बाद में जब गृह विभाग ने स्पष्ट किया कि यह कानून 28 अगस्त से प्रभावी होगा, तब जाकर पुलिस ने उन कानूनी धाराओं को वापस लिया।

हर कोई जानता है कि आपके इस कानून का मुख्य निशाना कौन है, भले इसके मसौदे में किसी धर्म का नाम न लिया गया हो। महाराष्ट्र की कुल आबादी में ईसाई समुदाय बहुत कम हैं। जिस समुदाय से आपकी सरकार इतनी डरी दिखती है, वह कानून-व्यवस्था के लिए शायद ही कोई खतरा है। फिर एक छोटे, पूरी तरह कानून का पालन करने वाले और उच्च शिक्षित समुदाय को लेकर यह घबराहट क्यों?

देशभर में जिस तरह इन कानूनों का इस्तेमाल किया जा रहा है, वह सिर्फ ईसाइयों के लिए नहीं, बल्कि हर नागरिक के लिए गहरी चिंता का विषय होना चाहिए। मध्य प्रदेश में इस साल जून में सात ईसाइयों, जिनमें छह पादरी थे, को राज्य के धर्मांतरण-विरोधी कानून और संबंधित धाराओं के तहत पांच साल कैद की सजा सुनाई गई। उन पर एक बच्चे के जन्मदिन समारोह में शामिल होने के दौरान कथित तौर पर धर्मांतरण के लिए उकसाने का आरोप था। जबलपुर हाईकोर्ट ने अपील लंबित रहने तक सातों को जमानत दी है।

आप कह सकते हैं कि अदालतें दूध का दूध और पानी का पानी कर देंगी, लेकिन किसी निर्दोष को पहले जेल में क्यों रहना पड़े, जमानत के लिए पैसों का इंतजाम क्यों करना पड़े और धर्मांतरण का कलंक क्यों झेलना पड़े?

यह कानून ऐसा ढांचा तैयार करता है जिसमें किसी बालिग का निजी आध्यात्मिक फैसला सरकारी जांच का विषय बन जाता है। मान लीजिए कि कल आप ईसाई बनना चाहें। मुझे पता है कि इसकी संभावना नहीं है, लेकिन कल्पना कीजिए कि आपने ऐसा किया। अधिकारियों को पूर्व सूचना देने की अनिवार्यता वाले इस कानून के तहत, आपको उस पर अमल करने से पहले इस बेहद निजी फैसले की जानकारी सरकार को देनी होगी।

इस स्थिति के खोखलेपन पर गौर कीजिए। आप मुख्यमंत्री हैं। आप घोषणा करते हैं कि आपने अपना धर्म बदल लिया है। आप राजनीतिक रूप से बहिष्कृत हो जाएंगे; आपका राजनीतिक करियर खत्म हो जाएगा। अगर एक ताकतवर मुख्यमंत्री के साथ ऐसा हो सकता है, तो किसी गरीब मजदूर, अनपढ़ ग्रामीण, आदिवासी या दलित की लाचारी की कल्पना कीजिए जो अपना धर्म बदलने का फैसला करता है।

*

संविधान के अनुच्छेद 25 के तहत अंतरात्मा की आवाज की स्वतंत्रता तथा धर्म को मानने, उसके अनुसार आचरण करने और उसका प्रचार करने के अधिकार को सुरक्षा दी गई है। संविधान निर्माताओं ने कभी नहीं कहा था कि किसी नागरिक को यह तय करने से पहले सरकार की अनुमति लेनी होगी।

संविधान सभा की बहसें इस मामले में बहुत कुछ बताती हैं। खुद संविधान सभा के सदस्य रहे जे.जे. एम. निकोल्स-रॉय ने अंतरात्मा की स्वतंत्रता और धर्म के प्रचार के अधिकार का पुरजोर बचाव किया था। इसके साथ ही, उन्होंने धोखाधड़ी, जबरदस्ती या अनुचित प्रभाव के जरिये धर्मांतरण का कड़ा विरोध भी किया था। आपका यह कानून इसी बारीक अंतर को खत्म करने का जोखिम पैदा करता है। जबरदस्ती और धोखाधड़ी अपराध हैं; लेकिन अंतरात्मा की आवाज पर किया गया फैसला अपराध नहीं।

आपको संविधान के मुख्य शिल्पकारों में से एक और महाराष्ट्र के सपूत डॉ. बी.आर. आंबेडकर का उदाहरण भी याद होगा। 14 अक्तूबर 1956 को उन्होंने नागपुर की दीक्षाभूमि में अपने अनुयायियों के विशाल जनसमूह के साथ बौद्ध धर्म अपनाया था। सोचिए, अगर आंबेडकर के उस फैसले पर आपके जैसा कानून लागू होता तो क्या होता? क्या आप चाहते कि धर्म बदलने की अनुमति देने से पहले सरकार उनसे पूछताछ करे? यकीनन कभी नहीं।

इस कानून की एक और गंभीर खामी हैः यह सबूत पेश करने के दायित्व को पूरी तरह उलट देता है। शिकायतकर्ता द्वारा जबरदस्ती, धोखाधड़ी या गैर-कानूनी प्रलोभन साबित करने के बजाय, यह कानून आरोपी पर ही यह असाधारण बोझ डाल देता है कि वह साबित करे कि धर्मांतरण स्वैच्छिक था। दोष सिद्ध होने तक निर्दोष माना जाना किसी भी आपराधिक न्याय प्रणाली का बुनियादी सिद्धांत है।

विवाह से जुड़े प्रावधान भी उतने ही चिंताजनक हैं। अंतरधार्मिक विवाहों को केवल धर्मांतरण के चश्मे से देखकर, यह कानून 'लव जेहाद' के जहरीले नैरेटिव को हवा देगा। सिर्फ इसलिए कि वे अलग-अलग धर्मों के हैं, दो वयस्क नागरिकों को किसी स्वयंभू निगरानी समूह, पुलिस अधिकारी या नौकरशाह के सामने साबित करने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि उनका रिश्ता सच्चा है।

न ही प्रार्थना सभाएं सरकारी निगरानी का अखाड़ा बननी चाहिए। इस कानून के औपचारिक रूप से लागू होने से पहले ही महाराष्ट्र से जो खबरें आ रही हैं, वे इससे पैदा हुए डर और चिंता को साफ दिखाती हैं। गैर-कानूनी धर्मांतरण के झूठे आरोपों से बचने की एहतियात के तौर पर कुछ छोटे चर्च प्रार्थना सभाओं में आने वाले श्रद्धालुओं से यह लिखित घोषणापत्र तक लेने लगे हैं कि वे अपनी मर्जी से आ रहे हैं।

एक बार मैं एक चर्च के वार्षिकोत्सव में मुख्य अतिथि के रूप में उत्तर प्रदेश गया था। वहां की प्रार्थना सभा में 99 फीसद लोग ऐसे थे जो कभी भीख मांगकर गुजारा करते थे। कई शराब के लती थे। कुछ छोटे-मोटे अपराधों में लिप्त रहे थे। लगभग सभी अनपढ़ थे। उनके बच्चे सड़कों पर भीख मांगते थे। उस पूरी बस्ती और समुदाय में एक असाधारण और चमत्कारी बदलाव देखने को मिला। पुरुषों को काम मिल चुका था और वे परिवार का भरण-पोषण कर रहे थे। बच्चे स्कूल जा रहे थे। परिवार साफ-सुथरे कपड़े पहने हुए थे। जो महिलाएं कभी अनपढ़ थीं, वे बाइबिल की पंक्तियां पढ़ रही थीं। क्या आप यह पसंद करेंगे कि वे भिखारी, शराबी और छोटे-मोटे अपराधी ही बने रहें ताकि कोई भी चर्च पर 'धर्मांतरण' का आरोप न लगा सके?

> अगर सरकार मुझे यह नहीं बता सकती कि किसे वोट देना है, तो वह मुझे यह क्यों बताए कि किसकी प्रार्थना करनी है?

ईसाई जब 'सेवा' की बात करते हैं, तो उसको लेकर भी समाज में बड़ी गलतफहमी है। चर्च गरीबों के बीच काम को केवल 'सामाजिक कार्य' नहीं मानता। एक ईसाई का मानना है कि किसी भूखे को खाना खिलाना, निर्वस्त्र को कपड़े पहनाना या समाज के ठुकराए व्यक्ति की देखभाल करना ईश्वर की सच्ची सेवा है। ईसा मसीह ने अपने अनुयायियों को अपने 'पड़ोसी' से प्यार करने का उपदेश दिया था। उन्होंने 'पड़ोसी' शब्द के आगे 'ईसाई' शब्द नहीं जोड़ा था।

यही वजह है कि ईसाई सुदूर और दुर्गम इलाकों में स्कूल, अस्पताल, अनाथालय और अन्य संस्थाएं चलाते हैं। यही वजह है कि मिशनरियों और ईसाई संगठनों ने पीढ़ियों से आदिवासी और हाशिये पर पड़े समुदायों के बीच काम किया है। किसी दूरदराज के आदिवासी इलाके में जाइए और आपको अक्सर एक ऐसा ईसाई आदिवासी परिवार मिलेगा जिसके बच्चे बेहतर शिक्षित हैं, जिनके कपड़े साफ-सुथरे हैं और जो जिंदा रहने की जद्दोजहद से निकलकर एक गरिमापूर्ण जीवन की ओर बढ़ चुके हैं।

*

यह बदलाव उन्हें पैसे देने का नतीजा नहीं। कभी यह शिक्षा का फल होता है, कभी बेहतर स्वास्थ्य सेवा का, कभी शराब की लत से मुक्ति का, या फिर सिर्फ इस अहसास का कि उनका भी अपना एक मानवीय सम्मान है। अगर कोई व्यक्ति ईसाई धर्म इसलिए चुनता है कि उसका मानना है कि यह उसे आध्यात्मिक सत्य की ओर ले जाता है, तो यह उसका संवैधानिक अधिकार है। यही सिद्धांत किसी बौद्ध, मुस्लिम या हिन्दू पर भी समान रूप से लागू होता है। इन निजी विकल्पों में से किसी एक को चुनने या दखल देने का सरकार को कोई हक नहीं। इसलिए आपका यह कानून केवल धर्मांतरण नहीं, नागरिक और राज्य के बुनियादी रिश्तों से जुड़ा सवाल है। ऐसे कानून की कल्पना कीजिए जो कहे कि अगर कोई नागरिक आज कम्युनिस्ट है, कल कांग्रेस का समर्थक बनता है और परसों भाजपा का रुख करता है, तो उसे अपनी राजनीतिक निष्ठा बदलने से पहले जिला कलक्टर को सूचना देनी होगी। स्वाभाविक ही, आप इसे हास्यास्पद कहेंगे।

लेकिन धार्मिक आस्था राजनीतिक पसंद से गहरी और निजी होती है। राजनीतिक दल सांसारिक संगठन है; जबकि आस्था अंतरात्मा का विषय है। अगर राज्य मुझे यह नहीं बता सकता कि मुझे किसे वोट देना चाहिए, तो वह मुझे यह कैसे बता सकता है कि मुझे किसकी प्रार्थना करनी चाहिए?

संविधान आपको हिन्दू बने रहने की आजादी देता है। यह आपको यह आजादी भी देता है कि अगर आपकी अंतरात्मा किसी अन्य मार्ग पर ले जाए, तो आप उसे चुन सकें। कृपया यही आजादी महाराष्ट्र के सबसे गरीब और बेबस नागरिक को भी दीजिए।

मैं आपके अच्छे स्वास्थ्य की कामना करता हूं और उम्मीद करता हूं कि आप उन लोगों के अधिकारों की रक्षा करने का साहस दिखाएंगे, जिनके विचारों से आप पूरी तरह असहमत हो सकते हैं।

भवदीय,
ए. जे. फिलिप

इस पत्र का विस्तृत संस्करण सबसे पहले 'इंडियन करेंट्स' में प्रकाशित हुआ

अजूबा बनता भारत

...और 'लोकतंत्र की जननी' के लिए भविष्य इतना निराशाजनक क्यों दिख रहा है?

आकार पटेल

इस हफ्ते एक विदेशी मीडिया संस्था ने मेरा इंटरव्यू लिया और बातचीत खत्म होने के बाद इंटरव्यू लेने वाले ने कहा कि वह हैरान था। उसने कहा कि उसे पता नहीं था कि भारत की स्थिति ऐसी है, और मुझे लगता है कि यह एक आम प्रतिक्रिया है। भारत पर रिसर्च करने वाले शिक्षाविद और यहां काम करने वाले विदेशी पत्रकारों के अलावा बहुत कम लोग ही यह समझ पाते हैं कि भारत अपनी पुरानी छवि के मुकाबले कितना बदल गया है।

उस इंटरव्यू में मुझसे क्या पूछा गया था और मैंने क्या जवाब दिया था, मैं बताता हूं, ताकि अंदाज़ा हो सके कि इंटरव्यू लेने वाले ने क्या समझा। आप इसकी तुलना आज भारत की स्थिति के बारे में अपनी समझ से भी कर सकते हैं।

सबसे पहले वह हिन्दुत्व को समझना चाहता था – इसके उद्भव, हिन्दुत्व के वैचारिक आधार और यह कि एक धर्म के तौर पर हिन्दू धर्म से कैसे अलग है। मैंने बताया कि हिन्दुत्व शब्द 'हिन्दू' और 'त्व' से मिलकर बना है और इसका मतलब है 'हिन्दूपन'।

यह शब्द एक सदी पहले सावरकर की किताब में इस्तेमाल किया गया था, जिसमें उन्होंने लिखा था कि भारत और हिन्दू शब्द उसी मूल से निकले हैं जिससे इंडस और सिंधु शब्द निकले हैं। उनका मानना था कि कोई व्यक्ति तभी हिन्दू और उस नाते भारतीय हो सकता है, जब उसके पवित्र स्थल भारत में हों, न कि यरूशलम, मक्का या किसी और जगह पर।

सवाल के दूसरे हिस्से के बारे में मैंने कहा कि हिन्दू धर्म एक धर्म है और इसका संबंध व्यक्तिगत आस्था से हैः जैसे देवी-देवता, प्रार्थना, व्रत और त्योहार। वहीं हिन्दुत्व का संबंध दूसरे व्यक्ति की आस्था और इस बात से है कि वे क्या नहीं खा सकते, कहां इबादत या प्रार्थना नहीं कर सकते, किससे प्यार नहीं कर सकते और कहां नहीं रह सकते।

फिर उन्होंने पूछा कि भारतीय राजनीति में हिन्दुत्व का असर कैसे बढ़ा, खासकर भाजपा के उभार के साथ। मैंने कहा कि भले ही इसकी शुरुआत 1951 में हुई थी, लेकिन चार दशकों तक राष्ट्रीय स्तर पर भाजपा/बीजेएस (भारतीय जनसंघ) का वोट शेयर सिंगल-डिजिट में ही रहा और 1990 तक बिना गठबंधन के वे एक भी राज्य नहीं जीत पाए।

इतने सालों तक पार्टी को यह समझ नहीं आया कि किस मुद्दे पर लोगों को एकजुट किया जाए। अयोध्या में मस्जिद गिराए जाने की घटना ने इसे लोकप्रिय बनाया और इसका वोट शेयर दोगुना होकर 18 प्रतिशत हो गया। जिस हिंसा ने भाजपा को आगे बढ़ाया, उसमें लगभग 3000 भारतीय मारे गए। दो और मांगों—कश्मीर में मुसलमानों की संवैधानिक स्वायत्तता खत्म करना और उनके पर्सनल लॉ को हटाना—इसने भी तनाव को बनाए रखा।

फिर वह इस बात पर चर्चा करना चाहता था कि हिन्दुत्व ने भारत के राजनीतिक संस्थानों और धार्मिक अल्पसंख्यकों के साथ बरताव सहित व्यापक राजनीतिक माहौल को कैसे प्रभावित किया है। यहां आंकड़ों को दोहराने के अलावा और कुछ भी नहीं कहा जा सकता था, जिनसे हमें पता चलता है कि हमारी सत्तारूढ़ पार्टी किस तरह से लोगों का पूर्ण बहिष्कार करती है, जैसा कि उसके मंत्रियों, लोकसभा और राज्यसभा सदस्यों और उसके राज्य विधायकों के रवैये से पता चलता है।

बीफ़ रखने को अपराध मानने वाले कानून 2015 में शुरू हुए, जिससे बीफ़ के नाम पर लोगों की पीट-पीटकर हत्या (लिंचिंग) की घटनाएं होने लगीं, और अलग-अलग धर्मों के लोगों के बीच शादी को अपराध मानने वाले कानून 2018 में आए। उसे यह जानकर बहुत हैरानी और दुख हुआ कि अब 'सबूत देने की जिम्मेदारी' (बर्डन ऑफ प्रूफ) को उल्टा कर दिया गया है और आरोपी को पहले से ही दोषी मान लिया जाता है। उसने पूछा कि अपने आस-पास ये सब होते हुए भी आप खुद को लोकतंत्र कैसे कह सकते हैं? मैंने बस कंधे उचका दिए।

फिर उसने हिन्दुत्व की राजनीति को सामान्य बनाने में प्रधानमंत्री की भूमिका के बारे में पूछा और यह भी कि यह राजनीतिक प्रोजेक्ट चुनावी रूप से सफल क्यों रहा है। मैंने कहा कि नरेन्द्र मोदी हिन्दुत्व का समर्थन करने के मामले में उनसे पहले के भाजपा नेताओं की तुलना में ज्यादा खुले और ईमानदार हैं। इसी वजह से वह अपने समर्थकों के बीच लोकप्रिय हुए और भाजपा को राष्ट्रीय स्तर पर 38 प्रतिशत वोट तक पहुंचाया और उसकी स्थिति अभी भी वही बनी हुई है। मैंने कहा कि भाजपा कानून और नीतियों के जरिये स्थायी ध्रुवीकरण को लेकर भी काफी आक्रामक है। (मैंने बुलडोज़र के इस्तेमाल और इसके लिए बिना उचित प्रक्रिया के पालन न होने का ज़िक्र किया, जिस पर वह अवाक रह गया)

फिर उसने पूछा कि हिन्दुत्व का भारत के मुसलमानों और दूसरे अल्पसंख्यकों पर क्या असर पड़ा है, और क्या बहुसंख्यकवादी राजनीति के उभार से भारतीय राज्य में अल्पसंख्यकों के अपनी जगह को समझने का नज़रिया बदल रहा है। मैंने अपनी समझ के अनुसार जवाब दिया। मुख्य बात यह थी कि भारत में अल्पसंख्यकों की आबादी पश्चिमी यूरोप की कुल आबादी से भी ज्यादा है। जब मुझसे भारत की सीमाओं के बाहर हिन्दुत्व के बारे में पूछा गया, तो मैंने बताया कि जब फ़िलिस्तीनियों के ख़िलाफ़ अपनी कार्रवाई को सही ठहराने की बात आती है, तो इसराइल हमें अपने भरोसेमंद दोस्त और सहयोगी के तौर पर पेश करता है।

फोटो: गेटी इमेजेज

पूछने का समय आ गया है कि क्या बहुसंख्यकवादी राजनीति इस बात को बदल रही है कि अल्पसंख्यक अपनी जगह को किस तरह समझते हैं

मैंने कहा कि 2014 से हमारी महत्वाकांक्षा ग्लोबल से रीजनल हो गई है और हमारा सारा ध्यान अपने पड़ोसियों से आगे निकलने पर है। हमने चीन से मुकाबला करना छोड़ दिया और मैंने उन्हें 1991 के बाद से अर्थव्यवस्था और हमारी स्थिति के आंकड़े बताए।

उसने पूछाः क्या भाजपा नेताओं को यह नहीं दिखता कि वे कितना नुकसान कर रहे हैं? मैंने कहा कि मेरे अनुभव के अनुसार, वे सचमुच अपनी विचारधारा में विश्वास करते हैं। उनके लिए यह किसी मकसद को पाने का जरिया नहीं, बल्कि खुद एक मकसद है; और इसी वजह से, लोगों को बाहर करने और सताने का जो सिलसिला चल रहा है, वह जारी रहता है—चाहे उसके नतीजे कुछ भी हों।

आखिर में, उसने मुझसे भारत के भविष्य पर चर्चा करने को कहा - कि क्या देश बहुसंख्यकवादी राजनीति से दूर हट सकता है, विपक्ष और भारत के लोकतांत्रिक संस्थान क्या भूमिका निभा सकते हैं, और क्या भारत की बहुलतावादी परंपरा हिन्दुत्व के बढ़ते प्रभाव का सामना कर सकती है।

मैंने कहा कि हमारी स्वाभाविक स्थिति बहुलवादी है और मोटे तौर पर समाज हमारी सरकार की विचारधारा को नहीं दर्शाता है। हालांकि, इतने सालों से ऊपर से थोपे जाने के कारण यह विचारधारा संस्थानों और समाज में रच-बस गई है और पार्टी के सत्ता से हटने के बाद भी यह बनी रहेगी।

भविष्य की बात करें तो वह अंधकारमय है, क्योंकि हमारे पास इस बात का कोई उपाय नहीं है कि 50 करोड़ लोगों को गरीबी से कैसे बाहर निकाला जाए, जो अभी भी गरीबी में ही जी रहे हैं।

> हम गरीब और महत्वहीन बने रहेंगे, लेकिन इस बात से संतुष्ट रहेंगे कि हमारे अल्पसंख्यक हमसे भी बदतर हालत में हैं

इससे भी बड़ी बात यह है कि अब हम इस मुद्दे पर कोई जरूरी चर्चा नहीं करते और न ही यह हमारे देश की राजनीति का मुख्य आधार है। हम गरीब और महत्वहीन बने रहेंगे, लेकिन इस बात से संतुष्ट रहेंगे कि हमारे अल्पसंख्यक हमसे भी बदतर स्थिति में हैं। ■

संडे नवजीवन
रविवार, 06 सितंबर, 2026 I www.navjivanindia.com
Published Date 06 September, 2026 (Sunday), Posted at LPC Delhi RMS, Delhi-06, Posting Days Friday and Saturday

जब स्त्रीवेश में छुपकर भागा वारेन हेस्टिंग्स

1857 से 76 साल पहले ही गोरों के खिलाफ बागी हो उठी थी बाबा विश्वनाथ की नगरी

कृष्ण प्रताप सिंह

उत्तर प्रदेश में बलिया जिले को इतिहासकार आम तौर पर 'बागी बलिया' कहते हैं। इसलिए कि 1942 के ऐतिहासिक भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान वहां के लोगों ने अंग्रेजों के खिलाफ खासे विद्रोही तेवर दिखाए थे और स्वतंत्रता सेनानी चित्तू पांडेय के नेतृत्व में समानांतर सरकार बना ली थी। लेकिन जानें क्यों भगवान विश्वनाथ की नगरी बनारस (वाराणसी) को वे वैसा भाव नहीं देते, जबकि उसने 1857 में लड़े गए देश के पहले स्वतंत्रता संग्राम से 76 साल पहले 16 अगस्त, 1781 को ही ईस्ट इंडिया कंपनी के विरुद्ध बगावत कर उसे धूल चटा दी थी।

तब उसके बागी राजा चेत सिंह ने गोरी सेना पर ऐसा प्रत्याक्रमण किया था कि वारेन हेस्टिंग्स को मुंह छुपाकर स्त्री भेष में भागना पड़ा था। बनारस ने 1799 में भी एक और कड़ी जोड़ी।

पहली बगावत की पृष्ठभूमि 1770 में बननी शुरू हुई, जब चेत सिंह अपने पिता बलवंत सिंह की जगह काशीनरेश (बनारस के राजा) बने। तब बक्सर की 22-23 अक्तूबर 1764 की लड़ाई में मुगल बादशाह और नवाबों को धूल चटा चुकी कंपनी का इकबाल बुलंद था, जबकि अवध के नवाब शुजाउद्दौला ने प्रभुत्व खोकर फैजाबाद को राजधानी बना लिया था और कंपनी की शर्तों पर दिन काट रहे थे। पांच साल बाद 1775 में उनके अंतिम दिनों में कंपनी ने दबाव डाला तो चेत सिंह को उससे 'बनारस की दूसरी संधि' करनी पड़ी। इसके तहत चेत सिंह को कंपनी को हर साल साढ़े बाईस लाख रुपये नजराना देना था।

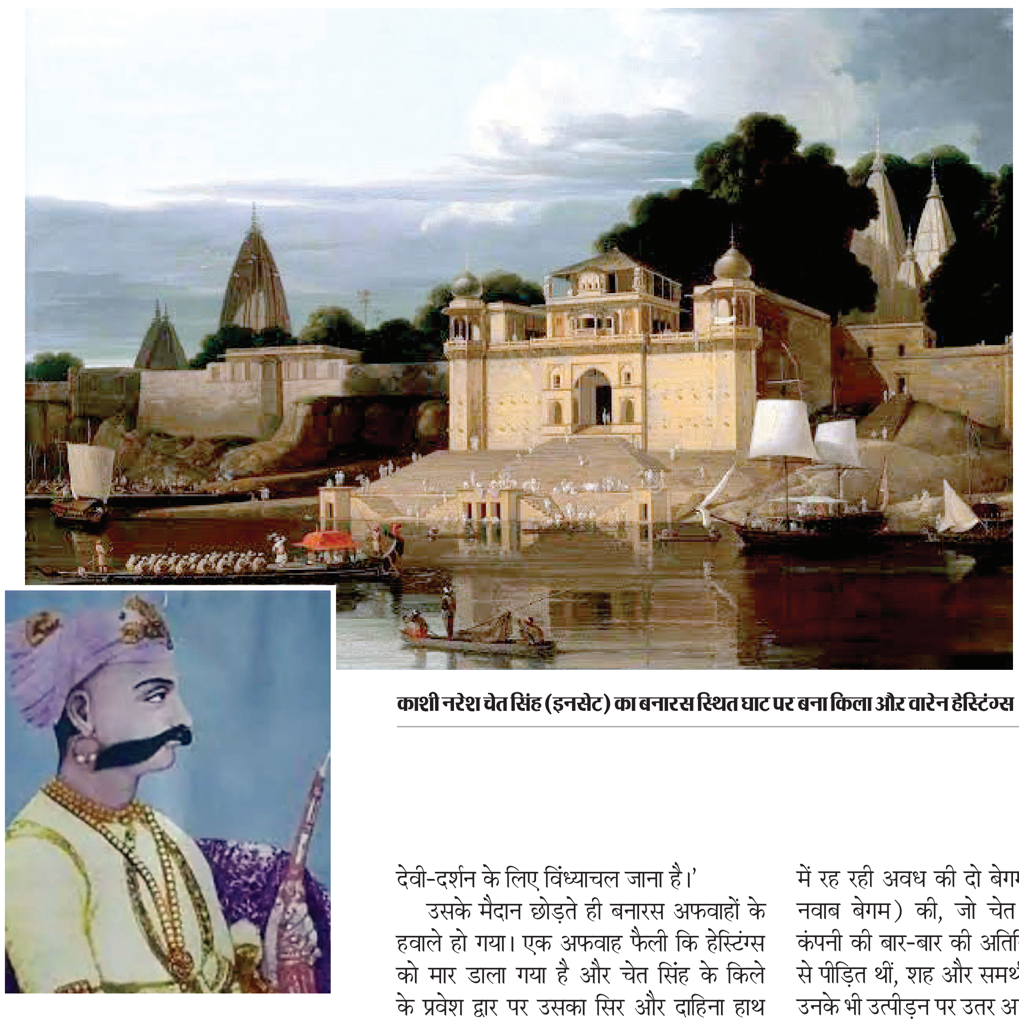
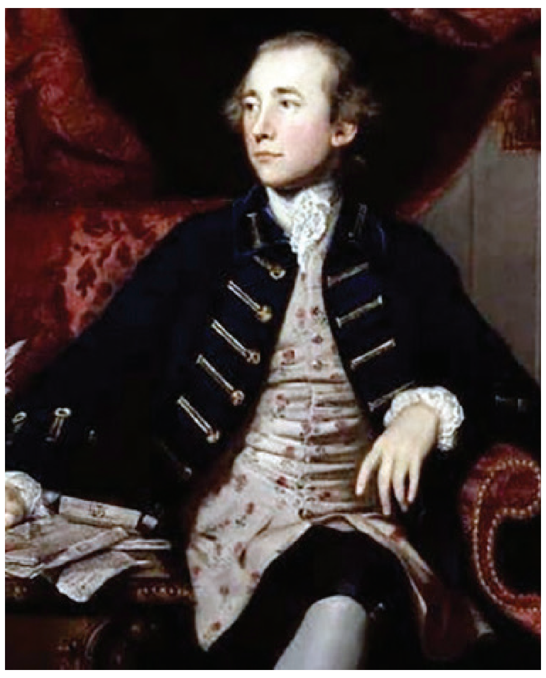
काशी नरेश चेत सिंह (इनसेट) का बनारस स्थित घाट पर बना किला और वारेन हेस्टिंग्स

शुजाउद्दौला के देहांत के बाद उनके बेटे आसफउद्दौला के गद्दी संभालते ही कंपनी सारे वचन भुलाकर अतिरिक्त रकम मांगने लगी। उसने 1775 में शुरू हुए पहले कंपनी-मराठा युद्ध को बहाना बनाया, जिसमें मराठे भारी पड़ रहे थे। गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स की मंशा थी कि युद्ध से जो अतिरिक्त आर्थिक बोझ पड़ रहा है, उसे उसके अधीनस्थ नवाब और राजा मिलकर उठाएं। उसके अनुसार बनारस की दूसरी संधि में इसका प्रावधान भी था।

1778 में उसने चेत सिंह से पांच लाख रुपयों की अतिरिक्त मांग की और असमर्थता जताने पर पांच दिनों में अदायगी अन्यथा अंजाम भुगतने का अल्टीमेटम दे डाला।

चेत सिंह ने जैसे-तैसे पांच लाख रुपये अदा कर दिए।अगले वर्ष हेस्टिंग्स ने फिर पांच लाख देने को कहा और असमर्थता जताने पर भारी हर्जाना लगा दिया। 1780 में फिर पांच लाख मांगे तो चेत सिंह ने व्यक्तिगत तौर पर दो लाख रुपये भिजवाएऔर रहम की प्रार्थना की। हेस्टिंग्स ने वे दो लाख रुपये तो लिये ही, भारी हर्जाने के साथ पांच लाख रुपये अतिरिक्त भी वसूले। फिर एक हजार घुड़सवार भेजने को कह दिया। चेत सिंह पांच सौ घुड़सवार और पांच सौ पैदल सिपाही ही उपलब्ध करा पाए, तो फिर भारी जुर्माना थोप दिया। अगस्त 1781 में वह कलकत्ता स्थित कंपनी के मुख्यालय से चार कंपनी सेना के साथ बनारस आ धमका और गोला दीनानाथ के निकट स्थित माधोदास सातिया के बाग में पड़ाव डाल दिया। फिर चेत सिंह को बागी करार देकर 16 अगस्त को उनके ही महल में नजरबंद करा दिया। यह खबर फैलते ही उनकी सेना ने हमला बोलकर चेत सिंह को घेरे खड़े अंग्रेज सैनिकों को मार डाला और फिर हेस्टिंग्स के साथ आए अधिकतर अंग्रेज अफसरों की भी जान ले ली। अनेक बनारसवासी भी, उनके पास जो भी हथियार थे, लेकर उस पर पिल पड़े थे। उस रोज बनारस की कई संकरी गलियां भी इस युद्ध की गवाह बनीं।

इस बीच, हेस्टिंग्स के पड़ाव की भी घेराबन्दी शुरू हो गई और उसके पास ही नए हमले की तैयारी की खबर आने लगी, तो हेस्टिंग्स को यह सोचकर नानी याद आने लगी कि अब उसके प्राण संकट में हैं। सो, घबराहट में भेष बदलकर मारे जा चुके और घायल गोरे सैनिकों के साथ अपना सारा साजो-सामान और रसद छोड़ वह चुनार के किले की ओर भागा। उसने भारतीय स्त्री का रूप धरा और पर्देदार पालकी में जा बैठा, जिसे कहारों से यह कहकर लाया गया था कि 'बीवीजी को देवी-दर्शन के लिए विंध्याचल जाना है।'

उसके मैदान छोड़ते ही बनारस अफवाहों के हवाले हो गया। एक अफवाह फैली कि हेस्टिंग्स को मार डाला गया है और चेत सिंह के किले के प्रवेश द्वार पर उसका सिर और दाहिना हाथ लटके देखे गए हैं। इसी बीच चेत सिंह फिर से राजसिंहासन पर बैठे।

बनारस के इस विद्रोह की प्रतिक्रियाएं अवध के दूसरे शहरों ही नहीं, गांवों तक में हुईं। गोरी फौज के अनेक देसी सैनिकों ने अपनी चौकियां छोड़ दीं और राजाओं एवं जमींदारों ने भृकुटियां टेढ़ी कर लीं। उधर, हेस्टिंग्स चुनार के किले में अपनी हार को जीत में बदलने का नया मौका ताड़ रहा था। जैसे ही मौका हाथ आया, उसने कई गुनी फौज के साथ बनारस पर दोबारा धावा बोला। चेत सिंह की सेना ने पहले तो मुकाबला किया, लेकिन पैर उखड़ते देख चेत सिंह को किसी तरह किले से निकाल एक सैन्य टुकड़ी के साथ नाव से इलाहाबाद की ओर भेज दिया। इलाहाबाद-रीवां के रास्ते वह ग्वालियर पहुंचे, जहां महादजी सिंधिया ने उन्हें शरण दी। फिर वह कभी बनारस नहीं लौट पाए।

चेत सिंह के किले में घुसने के बाद हेस्टिंग्स निराश हुआ क्योंकि उनके खजाने में उसके हाथ कुछ नहीं लगा। कहते हैं कि उसकी सेना सारा खजाना पहले ही लूट चुकी थी। तब बुझे मन से उसने उनका राजपाट उनके किशोरवय के भांजे को सौंप दिया-अलबत्ता, अपनी शर्तों पर।

हेस्टिंग्स को लगा कि चेत सिंह को फैजाबाद में रह रही अवध की दो बेगमों (बहू बेगम और नवाब बेगम) की, जो चेत सिंह की ही तरह कंपनी की बार-बार की अतिरिक्त रकम की मांग से पीड़ित थीं, शह और समर्थन प्राप्त था, तो वह उनके भी उत्पीड़न पर उतर आया। कंपनी को भेजी रिपोर्ट में उसने लिखा कि दोनों बेगमें खुले तौर पर चेत सिंह का समर्थन करती थीं।

वज़ीर अली ने नवाबी हाथ आते ही अपने अंग्रेज़परस्त वजीरों का दर्जा घटाना और स्वायत्तता की ओर बढ़ना शुरू कर दिया। गवर्नर जनरल जॉन शोर लखनऊ आए तो उन्हें भी ज़्यादा भाव नहीं दिया था

हेस्टिंग्स ने बहू-बेगम को कुसूरवार ठहराकर उनकी अनेक जमीनें और जागीरें जब्त कर लीं, जो बाद में लम्बी 'कानूनी' लड़ाई के बाद वापस करनी पड़ीं। हेस्टिंग्ज ने 28 जनवरी 1782 को बहू बेगम के बेटे नवाब आसफउद्दौला के साथ मिलकर फैजाबाद में उनके महल की सैन्य घेराबंदी और 'लूट-पाट' भी करा डाली। बाद में चेत सिंह और बेगमों के प्रति व्यक्तिगत प्रतिशोध की भावना से की गई उसकी कार्रवाइयों की ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा भर्त्सना की गई, लेकिन उनके पीडितों के लिए उसका कोई हासिल नहीं था।

*

18 साल ही बीते थे कि बनारस में हुए एक और विद्रोह ने गोरों को नाकों चने चबवा दिए। 1799 में हुआ यह विद्रोह उन्हें अवध के पांचवें नवाब वजीर अली खान की सौगात था, जिनको उन्होंने सत्ता संभालने के चौथे महीने में ही धोखेबाजी का इल्जाम लगाकर अपदस्थ करके लखनऊ से बनारस निर्वासित कर दिया था।

गोरों ने पहले तो वजीर अली को उनके पिता नवाब आसफउद्दौला का दत्तक पुत्र करार देकर उनके उत्तराधिकार को अमान्य कर दिया। फिर उनके चाचा सआदत अली की मिली भगत से उन्हें राजपाट से बेदखल कर दिया।

सूबे के तीसरे नवाब शुजाउद्दौला को मजबूरियों के चलते 1773 में अवध दरबार में गोरे रेजीडेंट की नियुक्ति और समरनीतिक नियंत्रण का ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा था। 1857 से पहले इस मोहताजी की सबसे ज्यादा कीमत वजीर अली ने ही चुकाई थी।

वजीर अली नवाबी हाथ आते ही उन्होंने अपने अंग्रेजपरस्त वजीरों का दर्जा घटाना और स्वायत्तता की ओर बढ़ना शुरू कर दिया। गवर्नर जनरल जॉन शोर लखनऊ आए तो उन्हें भी ज्यादा भाव नहीं दिया था। इससे बुरी तरह खफा अंग्रेज साजिशें रचने लगे और उनके चाचा सआदत अली से मिलकर उनको गद्दी से उतारने की कवायद शुरू की। उन्होंने बेचारगी में डेढ़ लाख रुपये सालाना पेंशन और अवध की सुदूर दक्षिणी सीमा स्थित बनारस के रामनगर में नजरबंद रहना 'स्वीकार' कर लिया।

फिर भी न चाचा सआदत को चैन था और न कंपनी को। वजीर अली द्वारा पलटवार का अंदेशा दोनों को परेशान करने लगा, तो उन्होंने मिलकर उन्हें बनारस से कोलकाता भेजना तय किया। इसको लेकर वजीर अली के खेमे में प्रतिहिंसा जागी तो उन्होंने बनारस स्थित अंग्रेज कमांडर जार्ज फ्रेडरिक चेरी को उनसे मिलने का संदेश भिजवाया। चेरी राजी हुआ तो 14 जनवरी 1799 को गोपनीय तरीके से अपने सिपहसालारों इज्जत अली और वारिस अली के साथ उसके 'मिंट हाउस' जा धमके, जहां साथ गए लश्कर ने कमांडर कैंप को घेरकर न सिर्फ चेरी बल्कि कैप्टन कानवे, रोबर्ट ग्राहम, कैप्टन ग्रेग इवांस और सात अंग्रेज सिपाहियों को भी मार डाला। वाराणसी में मकबूल आलम रोड स्थित ईसाई कब्रिस्तान में अंग्रेज कमांडर चेरी और उसके साथी कैप्टनों की याद में निर्मित स्मारक पर वजीर अली का नाम आज भी उनके कातिल के रूप में दर्ज है।

लश्कर का अगला निशाना नदेसर स्थित मजिस्ट्रेट एम. डेविस का घर बना। वहां भी कई संतरियों को मार दिया गया। लेकिन मजिस्ट्रेट को बचाने आई अंग्रेजों की फौज भारी पड़ी तो अंततः 21 जनवरी 1799 को लश्कर ने 'कैदी' वजीर अली को लेकर भाग निकलने में ही भलाई समझी।

सत्रह साल गोरों की कैद में गुजारने वाले वजीर अली की त्रासदी की इंतिहा यह कि कैद में ही उनका देहांत हुआ, तो कंपनी ने उनके अंतिम संस्कार पर सत्तर रुपये भी खर्च नहीं किए, जबकि नवाबों के सुनहरे दिनों में उनके पिता नवाब आसफउद्दौला ने अप्रैल 1794 में उनकी शादी की तो उसके जश्न पर तीस लाख रुपये (उस समय के) लुटा डाले थे।

वजीर अली की बदनसीबी इतनी ही नहीं थी। 1856 में नवाब वाजिद अली शाह को अपदस्थ और निर्वासित किए जाने के बाद 1857 में बागियों द्वारा आखिरी नवाब बिरजिस कद्र को गद्दी पर बैठाकर लड़े गए स्वतंत्रता संग्राम से 58 साल पहले अंग्रेजों से दो-दो हाथ करने के बावजूद इतिहास ने चेत सिंह की ही तरह उनकी स्मृतियों के साथ भी न्याय नहीं किया। इतना ही नहीं, उनके बाद सत्तासीन हुए अवध के किसी भी नवाब ने विद्रोह की उनकी परंपरा को आगे नहीं बढ़ाया। ■

भारतीय संयुक्त परिवार की वापसी

जेन-ज़ी वापस अपने माता-पिता के घर लौट रही है, लेकिन इसके पीछे उनकी वजहें कुछ अलग हैं

अभय शुक्ला

संयुक्त परिवार भारतीय समाज को सदियों तक एकजुट रखने और मजबूती देने वाला बेहतरीन सामाजिक ढांचा रहा है। एक ही छत के नीचे तीन-चार पीढ़ियों का यह सह-अस्तित्व परिवारों को एक बड़ा सामाजिक समूह बनाता, आपसी रिश्तों में मिठास बनाए रखता और व्यक्तिगत संसाधनों को साझी अर्थव्यवस्था में तब्दील कर देता था।

इसकी सबसे बड़ी खूबी यह थी कि यह बड़े परिवार के कमजोर सदस्यों-बच्चों, बुजुर्गों, बीमारों, दिव्यांगों, बेरोजगारों और साधनहीनों- की पूरी देखभाल करते हुए सुनिश्चित करता था कि वे भी गरिमापूर्ण जीवन जी सकें। इसके महत्व को कम करके नहीं आंका जा सकता, क्योंकि उस जमाने में कोई सरकारी कल्याणकारी योजनाएं, पेंशन, वृद्धाश्रम या 'आयुष्मान भारत' जैसी कोई सामाजिक सुरक्षा छतरी नहीं थी।

मेरे पिताजी की पीढ़ी शायद इस 'संयुक्त परिवार परंपरा' की आखिरी पीढ़ी थी (उनका निधन 2017 में 93 वर्ष की आयु में हुआ था)। वह खुद एक बड़े और भरे-पूरे परिवार में पले-बढ़े थे, जिसमें माता-पिता, चार भाई-बहन, ढेर सारे चाचा-ताऊ, बुआ और उनके परिवार, तथा कुछ उपेक्षित-सी विधवा महिलाएं शामिल थीं। वे सब उत्तर प्रदेश के फतेहपुर जिले में स्थित उनके गांव में मेरे दादाजी द्वारा बनाई गई विशाल हवेली में एक साथ हंसी-खुशी रहते थे।

कतई मत सोचिएगा कि वह कोई लोकतांत्रिक व्यवस्था थी। वह पूरी तरह पितृसत्तात्मक एकतंत्र था; दादाजी जो कह देते, वही अंतिम कानून होता और हर कोई उसे सहजता से स्वीकार करता क्योंकि इसीमें सबका साझा हित था।

मुझे लगता है कि भारतीय संयुक्त परिवारों का बिखराव 1960-70 के दशक में शुरू हुआ और 1990 के दशक के अंत और 2000 के दशक की शुरुआत तक यह व्यवस्था लगभग दम तोड़ चुकी थी।

चीजें मेरी पीढ़ी यानी 'बेबी बूमर्स' (1946 से 1964 के बीच जन्मे) के साथ बदलनी शुरू हुईं। जैसे-जैसे शिक्षा, आने-जाने और रोजगार के अवसरों का विस्तार हुआ, युवाओं ने घर छोड़ना शुरू कर दिया- पहले बेहतर पढ़ाई और फिर नौकरियों के लिए। वे पैतृक घरों से दूर स्वतंत्र रूप से बसते चले गए। यह सिलसिला अगली पीढ़ी यानी 'मिलेनियल्स' के साथ और तेजी से बढ़ा। संयुक्त परिवार लगभग गायब हो गए और उनकी जगह एकल परिवारों ने ले ली।

यह सामाजिक बदलाव न केवल उपर्युक्त कारणों से अवश्यंभावी था, बल्कि लड़कियों की शिक्षा में सुधार का भी सीधा परिणाम था। वे अब कम उम्र में विवाह करके अपने जीवन की दिशा तय करने तक सीमित रहने को तैयार नहीं थीं। वे विवाह के बाद स्वतंत्र करियर और अपना अलग आशियाना चाहती थीं। पति-पत्नी कहां और कैसे रहेंगे, यह अब किसी कुलप्रमुख द्वारा नहीं बल्कि अर्थव्यवस्था-नौकरी, वेतन, करियर की संभावनाओं और बिना मां-बाप के दखल के अपने परिवार को अपने तरीके से भविष्य तय करने की इच्छा से तय होने लगा था।

अब 'जेन-ज़ी' के साथ यह पहिया घूमकर वापस उसी मुकाम पर आ रहा है। विडंबना देखिए कि जिन ताकतों ने कभी उन्हें संयुक्त परिवार व्यवस्था से दूर धकेला था, वही आज उन्हें वापस इसकी ओर लौटने को मजबूर कर रही हैं! 20 से 30 साल के कामकाजी और बेरोजगार, विवाहित और अविवाहित युवा तेजी से अपने मां-बाप के साथ रहने के लिए लौट रहे हैं। यह बात आंकड़ों और जमीनी अनुभवों दोनों से साबित होती है। शोध बताते हैं कि 70-80 फीसद युवा अपने मां-बाप के साथ रहते हैं, और 20 फीसद युवा विवाहित जोड़े भी ऐसा ही कर रहे हैं; और यह रुझान लगातार बढ़ रहा है।

अपने खुद के सामाजिक और पारिवारिक दायरे में मैं देखता हूं कि हर दो में से कम-से-कम एक परिवार (जिसमें मेरा परिवार भी शामिल है) में यह सच साबित हो रहा है। यह बदलाव आर्थिक और महत्वाकांक्षा से जुड़ी व्यावहारिक मजबूरियों के चलते हुआ है। लड़के और लड़कियां, दोनों अधिक उम्र में शादी कर रहे हैंः लड़कियों की शादी की औसत उम्र बढ़कर 22.9 साल हो गई है (शहरी क्षेत्रों में 24- 27.5), और लड़कों के लिए यह 29 वर्ष (शहरों में 30 पार) हो चुकी है। अविवाहित रहने का सीधा मतलब है कि वे अपने माता-पिता के साथ ही रह रहे हैं। इसके उलट, तलाक की दरें भी बढ़ रही हैं- 1990 के बाद यह 1.1 फीसद से बढ़कर 1.6 फीसद हो गई है। पश्चिमी मानकों से यह बेशक कम हो, लेकिन इसमें 50 फीसद वृद्धि हुई है। तलाक का मतलब है कि अलग हुए जोड़े वापस अपने माता-पिता के सुरक्षित आशियाने में लौट आते हैं।

इसका एक और बड़ा कारण बेरोजगारी है। देश के लगभग 40 फीसद स्नातक बेरोजगार हैं, और जो नौकरी कर भी रहे हैं उनका बड़ा हिस्सा वेतन में बमुश्किल गुजारा कर पा रहा है, खासकर महानगरों में। नीति आयोग की रिपोर्ट के मुताबिक, 18 से 29 वर्ष के 8.70 करोड़ युवा न तो रोजगार, न शिक्षा में और न ही किसी प्रशिक्षण की श्रेणी में आते हैं। उनके पास मां-बाप के साथ रहने के अलावा विकल्प नहीं।

आर्थिक तंगी, नौकरियों के संकट और घर संभालने के बढ़ते खर्चों ने 'जेन-ज़ी' को एक बार फिर माता-पिता की छत्रछाया में लौटने पर मजबूर कर दिया है। यह आर्थिक सुरक्षा की व्यावहारिक मजबूरी है जिसने संयुक्त परिवारों को फिर प्रासंगिक बना दिया है

फोटोः गेटी इमेजेज़

आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (एआई) भी अपना नकारात्मक असर दिखाने लगा हैः बड़ी टेक कंपनियों ने पहले ही हजारों नौकरियां खत्म कर दी हैं और आने वाले समय में बहुतों की नौकरियों पर तलवार लटकने वाली है। टियर-2 और 3 के शहरों में भी घर खरीदना या किराये पर लेना इतना महंगा हो चुका है कि अकेले अलग रहना अधिकातर युवाओं के लिए हसीन ख्वाब जैसा हो गया है। ऐसे भारी खर्चों के बीच, बुजुर्ग माता-पिता और उनके भरे-पूरे घर अचानक आकर्षक लगने लगते हैं। इस तरह, संयुक्त परिवार व्यवस्था अचानक प्रासंगिक हो गई। यह हम जैसे बूढ़े हो रहे 'बेबी बूमर्स' के लिए भी सहूलियत वाला है। यह दोनों पक्षों को रास आने वाली स्थिति है। लेकिन हर अच्छी चीज की तरह यहां भी एक पेंच है।

कुदरत का यह नियम कभी नहीं रहा कि संतान हमेशा जन्मदाताओं के साथ रहे। यही वजह है कि जंगली जानवर अपने शावकों को जीने का हुनर सिखाने के बाद दूर भगा देते हैं ताकि वे खुद अपना भरण-पोषण कर सकें। संयुक्त परिवार जीवन के इस बुनियादी नियम से थोड़ा अलग रास्ता चुनते हैं।

जब कई वयस्क एक साथ रहते हैं, तो तनाव होना स्वाभाविक है। यह तनाव भिन्नताओं से पैदा होता है। मेरे पिताजी के दौर के संयुक्त परिवार इन तनावों को एक सर्वमान्य सत्ता- यानी परिवार के मुखिया- के जरिए सुलझा लेते थे।

लेकिन यह बात जेन-ज़ी, अल्फा और भविष्य के गर्भ में पल रही किसी भी अन्य अंग्रेजी वर्णमाला वाली पीढ़ी पर लागू नहीं होती। आज युवाओं को सवाल पूछना सिखाया जाता है, न कि हर बात को आंख मूंदकर स्वीकार करना। वे अपनी बात खुलकर कहना जानते हैं, किसी सत्ता के आगे चुपचाप झुकना नहीं। यह बात पारंपरिक संयुक्त परिवारों के मिजाज के बिल्कुल विपरीत है, और मैं इसे कई घरों में प्रत्यक्ष घटते देख रहा हूं।

संयुक्त परिवार व्यवस्था के इस 'दूसरे चरण' को सफल बनाने के लिए बहुत धैर्य, आपसी समझ, समझौते की भावना, सच्ची देखभाल और एक-दूसरे के प्रति सम्मान की दरकार होगी। यह अभी प्रयोग के दौर में है। लेकिन मैं चाहता हूं कि यह सफल हो, क्योंकि परिवार ही किसी भी समाज की रीढ़ होते हैं और खुशहाल एवं संगठित परिवार ही स्थिर सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करते हैं-जिसकी आज की इस बिखरी दुनिया को सबसे ज्यादा जरूरत है। ■

अभय शुक्ला सेवानिवृत्त आईएएस अधिकारी हैं। यह avayshukla.blogspot.com से लिए उनके लेख का संपादित रूप है।